स्वामी विवेकानन्द

सन्तराम वत्स्य

स्वामी विवेकानन्द

लेखक
सन्तराम वत्स्य

सुबोध पब्लिकेशन्स

© सुबोध पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली

प्रकाशक : सुबोध पब्लिकेशन्स २/३ बी. अंसारी रोड, नई दिल्ली ११०००२, **संस्करण** १९९१ **मुद्रक** : रविन्द्रा आफसेट

क्रम

भूमिका	५
बाल्यकाल	९
साधना काल	२१
परिव्राजक विवेकानन्द	४१
विवेकानन्द की दिग्विजय	७९
युगद्रष्टा विवेकानन्द	१११
महामानव विवेकानन्द	१२८
शक्तिदायी विचार	१३९

भूमिका

भारतीय इतिहास के उस संकटकाल में, जब हम विदेशियों से पराजित और प्रभावित होकर उनका अन्धाधुंध अनुकरण करने में लगे हुए थे, हमें अपना सब-कुछ बुरा और उनका सब-कुछ भला लगने लगा था; हम बन्दर की तरह हर बात में उनकी नकल कर रहे थे; देश, धर्म और जातीय गौरव को न केवल भूलकर अपितु निन्दनीय और त्याज्य समझकर उसके प्रति घृणा और अनादर से भर उठे थे; अपनी यशस्वी सांस्कृतिक परम्परा के ज्ञान और गौरव से शून्य हो चुके थे; ऐसे अमावस्या की रात्रि जैसे घोर अन्धकार के समय में जिन प्रातःस्मरणीय पूतात्मा संन्यासी ने हम पथ-भ्रष्टों को अपनी ज्ञान-ज्योति से प्रकाश दिया, पथ दिखाया और अपनी अमृत संजीवनी-तुल्य वाणी से मृतवत्, भूलुंठित अपमानित कोटि-कोटि देशवासियों की चेतना को लौटाया—उन्हें दर्पण के सामने खड़ा करके उनका वास्तविक स्वरूप दिखाया और उन्हें जीवित-जागृत राष्ट्र के घटक के रूप में पुनः प्रतिष्ठित किया, उन तपःपूत राष्ट्रपुरुष को हमारा प्रणाम ! शत प्रणाम !! शत-शत प्रणाम !!!

स्वामी विवेकानन्द का नाम सुनते ही आँखों के सामने एक ऐसा चित्र उभरता है जिसकी तुलना करना कठिन है। हमारे सारे प्रतीक और उपमान मिलकर भी उनकी गौरव-गरिमा का आख्यान करने में असमर्थ ठहरते हैं। उनका भौतिक शरीर भी दिव्य था। इन्द्र के वज्र से निर्मित उनकी पुष्टकाया अपूर्व तेज से भास्वर थी। उनके नेत्र सूर्य-चन्द्र की ज्योति जैसे अग्नि और अमृत के समान गुणधर्मा थे। वे राजकमल जैसे सुन्दर और नागराज जैसे मुग्धकारी थे। उनकी पलकें यद्यपि बड़ी-बड़ी थीं, पर करुणा-विगलित अश्रुबिन्दुओं को रोकने में सदा असमर्थ रहीं। उनकी

भ्रूकुटियाँ उठी हुई, कुछ धनी और अर्जुन के गाण्डीव की तरह तनी हुई थीं।

उनका चौड़ा माथा सुवर्ण पत्र पर लिखे भारत-भाग्य के लेख जैसा था। उनका मस्तक कोटि-कोटि मन्दिरों और तीर्थों में प्रणत होकर परम पावन बन गया था। वे स्वयं भी जंगम तीर्थ बन गये थे।

उनके संपुटित ओठ सत्या वाक् के हिरण्मय पिधान जैसे प्रभोज्ज्वल थे। वे ओठ इस द्रष्टा ऋषि के मन्त्रों का गान करने के लिए समुत्सुक-से जान पड़ते थे। उनके सान्निध्य में कुछ ऐसी अनुभूति होती थी कि बहुत-सी अनकही बातें भी हृदय में पैठ जाती थीं। जैसे अखण्ड आत्मा के बीच इन्द्रियग्राम की अपरिहार्य आवश्यकता नहीं है। उनके कान श्रुति से पूर्ण और मन्त्र-दीक्षा से दीक्षित थे। उनकी वाणी में जैसे साक्षात् वाग्देवता का निवास था। उनका सारा शरीर तितिक्षा, साधना और योग से भावित होकर अनन्त भाव का आश्रयस्थल बन गया था। उनकी द्विधाविभक्त चिबुक, ओष्ठमध्य, नासिकाग्र और भ्रूमध्य के बीच एक ऐसी तीखी रेखा का आभास होता था जैसे समभाग देव और मानव के योग से इनका आविर्भाव हुआ हो।

माथे के बीचोबीच उनका तृतीय ज्ञाननेत्र प्रयागराज में गंगा और यमुना के साथ अदृश्या सरस्वती की धारा की तरह अदृश्य रूप से विद्यमान था। उनके विशाल कन्धे सारे राष्ट्र का भार उठाने में समर्थ थे। उनका चौड़ा हृदयप्रदेश मानव-मात्र के लिए अनन्त करुणा से परिपूर्ण था। उनका हृदय प्रत्येक मानव के दुःख-कष्ट से स्पन्दित था। 'यत्र जीवः तत्र शिवः' के मन्त्र-द्रष्टा इस महर्षि के अन्तर्यामी इसी हृदय में सन्निविष्ट थे। उनकी विशाल बाँहें जहाँ उनके कर्मयोग का आख्यान-सी करती प्रतीत होती थीं, वहाँ वे सारे विश्व को अपनी परिधि में लेने के लिए भी आतुर थीं। उनकी पुष्ट जंघाओं में वायुदेव की गति थी। वे मूर्तिमती 'चरैवेति-चरैवेति' ऋचाओं के तुल्य थीं। उनके चरण आसेतु-हिमाचल विस्तृत भारतभूमि की प्रदक्षिणा से कृतार्थ थे। अपनी तपश्चर्या से वे स्वयं भी पूज्यपाद थे। उनकी चरण-धूलि को माथे पर लगाकर लोग अपने को कृत-कृत्य अनुभव करते थे।

यद्यपि वे देहवादी नहीं थे तथापि उन्होंने जन-जन के लिए अन्न-वस्त्र की आवश्यकता को सर्वोपरि स्थान दिया। यद्यपि महामना पुरुष देश और काल से परे होते हैं यथापि उन्होंने अपने देश और काल की उपेक्षा नहीं की। भगवान् वाराह की तरह उन्होंने अधोगति को प्राप्त इस भारतभूमि का उद्धार कर अपने को सहज ही अवतारकोटि के महापुरुषों में सम्मिलित कर लिया है। स्वधर्म की पुनः प्रतिष्ठा के यशस्वी कार्य को करने के लिए ही जैसे उनका आविर्भाव हुआ था।

कटिप्रदेश में उत्तरीय बाँधे हुए, उन्हें देखकर ऐसा लगता था जैसे इस भारतभूमि के उद्धार के लिए ही उन्होंने कमर कस रखी है। उनके गैरिक वस्त्र जहाँ त्याग के प्रतीक थे वहाँ नवोन्मेष के अरुणोदय का भी आभास देते थे। उनके सिर की गैरिक पगड़ी राजाधिराजों के मणि-मुक्ता-मण्डित मुकुटों से अधिक गौरवशालिनी थी। अनेकानेक राजा-महाराजाओं ने अपने मुकुटों को उनके चरणों के स्पर्श से पवित्र किया था। भगवान् कार्तिकेय की तरह भारतभूमि के उद्धार के लिए शिव-शक्ति ने अपने हाथों उनको सिरजा था। वे देव-कार्य के लिए ही आये थे।

ज्ञान, कर्म और भक्ति के वे मूर्तिमन्त संगमस्थल थे। वे बालक जैसे सरल, दृढ़चेता योगी थे। उन्होंने सेवापथ का अनुसरण किया था, मोक्ष तो अनुचर की भाँति उनके पीछे-पीछे चला आया था। कामनाओं के त्याग की शृंखला में उन्होंने परमगति की कामना का भी त्याग करके नये युग-धर्म की स्थापना की थी। 'बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय' ही उनकी मन्त्र-दीक्षा थी। वे 'सर्वभूतहिते रताः' रहकर पिण्ड में ही परमेश्वर का साक्षात्कार करते थे। वे ब्रह्मलीन थे और स्वयं ब्रह्म। वे अर्वाचीन काल के ऋषि थे। वे योग्य गुरु के योग्य शिष्य थे। उन्होंने सर्वात्मभावेन अपने को गुरु-कार्य के लिए समर्पित किया था। यद्यपि उनका प्रातःस्मरणीय नाम विवेकानन्द था, पर वे नाम-रूपातीत परमपुरुष थे। जैसे नदी समुद्र में मिलकर अपने नाम-रूप से विमुक्त हो जाती है वैसे ही वे भी समत्वयोग से सम्पन्न स्थितप्रज्ञ थे। भगवान् शंकर के सन्देश को दिग्दिगन्त तक ले जाने वाले वे देवदूत थे। वे भारत के अमृत सन्देश के वाहक प्रथम दूत थे। वे

स्वयं अमृत थे। अमृतमय। उनकी वाणी अमृतवर्षिणी थी। उनका दर्शन अमृतोपम था।

वेद, उपनिषद्, दर्शन और गीता के तत्त्वज्ञाता वे रूढ़ियों के विरोधी थे किन्तु स्वस्थ परम्पराओं के पोषक। सभी नया अच्छा है और सभी पुराना बुरा है, ऐसी ओछी बुद्धिवालों के वे विरोधी थे। वे हिन्दू जाति को उसकी राष्ट्रीय भूमिका के लिए सन्नद्ध कर उसे सबल, समोन्नत देखना चाहते थे। एक भी भूखा-नंगा इस देश में न रहे, वे उस दिन को पास लाना चाहते थे। वे अशिक्षा, अज्ञान, अकर्मण्यता और दैन्य को दूर भगाना चाहते थे।

वे व्यक्ति नहीं, संस्था थे। वे युगद्रष्टा और युगप्रवर्तक थे। वे समन्वय-साधक, ब्रह्मवेत्ता थे। वे भारतीय जागरण के नान्दीपाठ के गायक थे। भारतीय नवोन्मेष की दाग-बेल डालते समय वे सूत्र के एक छोर को खींचकर अमेरिका, इंग्लैण्ड और पेरिस तक ले गये थे। भारत को दोबारा व्यास पीठ पर—गुरु की गद्दी पर बैठाने का तथा विश्व को अमर सन्देश देने का सौभाग्य इन्हीं पुण्यात्मा को है। ऐसे थे हमारे चरित नायक।

इन्हीं महामहिम युगपुरुष महर्षि स्वामी विवेकानन्द की जीवनी को पाठकों के लिए प्रस्तुत किया गया है, जिससे वे अपनी गौरवपूर्ण विरासत से परिचय प्राप्त कर सकें तथा भटकन और अनास्था के इस वातावरण में अपनी दिशा को पहचान सकें।

पुस्तक के अन्तिम अध्याय में स्वामीजी के विचारों को संकलित किया गया है। आशा है, पाठक इससे लाभान्वित होंगे।

—लेखक

स्वामी विवेकानन्द

बाल्यकाल

कलकत्ता महानगर के उत्तरी भाग में सिमुलिया मुहल्ला। इस मुहल्ले की गौरमोहन मुकर्जी स्ट्रीट में दत्त परिवार का विशाल भवन। सुखी-सम्पन्न दत्त परिवार के भवन में सदा चहल-पहल लगी रहती। यहाँ प्रत्येक पर्व-उत्सव पर भीड़ जमती, प्रत्येक शुभ दिन धूम-धड़ाका होता। कलकत्ता के धनी-मानी भी इस परिवार की शान को ईर्ष्या से देखते।

इस परिवार के गृह-स्वामी श्री राममोहन दत्त कलकत्ता सुप्रीम कोर्ट के नामी वकीलों में से एक थे। बड़ा नाम, बड़ी शान। उनकी हर बात में उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का सामन्ती आडम्बर होता।

इन्हीं राममोहन के पुत्र श्री दुर्गाचरण दत्त ने संस्कृत और फारसी में अपनी शिक्षा पूरी करने के बाद अंग्रेजी का भी काम-काजी ज्ञान प्राप्त कर, अपने पिता के पद-चिह्नों का अनुसरण किया और वकालत करने लगे। पर उनके मन में धन कमाने की पिता जैसी चाह नहीं थी। उस समय के धनी-मानी पुरुषों की भोग-विलास-वृत्ति भी उनमें नहीं थी। वे इन संसारी झमेलों से कुछ उदासीन-से रहते। यथासमय उनका विवाह बड़ी धूम-धाम से सम्पन्न हुआ, पर पत्नी में भी उनका मन आसक्त नहीं हुआ। दूसरी ओर धार्मिक ग्रन्थों के पठन-मनन की ओर उनका झुकाव दिनों-दिन बढ़ता गया। कलकत्ता महानगरी में देश के विभिन्न अंचलों से आने वाले ज्ञानी साधु-महात्माओं का सत्संग और उनके साथ ज्ञान-चर्चा उनका व्यसन बन गया। धीरे-धीरे उनके मन में वैराग्य-भाव बढ़ता गया और एक दिन पच्चीस वर्ष का यह युवक अपनी नवयौवना पत्नी और एक पुत्र तथा घर-बार को छोड़कर संन्यासी हो गया।

इस बालक का नाम विश्वनाथ रखा गया। बचपन में ही विश्वनाथ की माँ भी चल बसीं। विश्वनाथ पढ़-लिखकर अपने पिता और दादा की तरह वकील बन गए। विश्वनाथजी की गिनती प्रतिभाशाली वकीलों में होती थी। फारसी और अंग्रेजी के वे अच्छे जानकार थे। अध्ययन में उनकी विशेष रुचि थी। वे अपने वकालत के कार्य के सम्बन्ध में लखनऊ, इलाहाबाद, दिल्ली और लाहौर तक आते-जाते रहते थे। श्री विश्वनाथ उदार धार्मिक वृत्ति के व्यक्ति थे। अन्य धर्मावलंबियों का भी सम्मान करते थे। वे खूब कमाते थे और सुख-सुविधा के लिए दिल खोलकर खर्च करते थे। नौकर-चाकर, घोड़ा-गाड़ी, बन्धु-बान्धवों से वे सदा घिरे रहते। लक्ष्मी के कृपापात्र श्री विश्वनाथ दत्त का जीवन बड़े आराम से चलता।

विश्वनाथजी की पत्नी श्रीमती भुवनेश्वरी देवी परम्परागत धर्म को माननेवाली महिला थीं। वे सारे घर की व्यवस्था करतीं। सभी की आवश्यकताओं का ध्यान रखतीं। घर के काम-काज के साथ वे अपने दैनिक पूजा-पाठ का भी नियम से पालन करतीं। वे बंगला अच्छी तरह पढ़-लिख लेती थीं और रामायण, महाभारत, भागवत आदि का नियम-पूर्वक पाठ करती थीं। वे सरल किन्तु गम्भीर प्रकृति की थीं।

भुवनेश्वरी देवी की गोद पुत्र से सूनी थी। यह दारुण दुःख जहाँ उन्हें उदास-चिन्तित रखता, वहाँ इसी के कारण वे अधिकाधिक धर्मपरायण होती गयीं। प्रतिदिन शिवपूजन व धार्मिक ग्रन्थों का पाठ एक ओर तो उनके सूने क्षणों को भरता और दूसरी ओर मन में यह आशा भी जगती कि भगवान् महादेव कभी तो प्रसन्न होकर उनकी मनोकामना पूरी करेंगे। पुत्र-कामना से वे अनेक व्रतों का विधिपूर्वक पालन करतीं।

इसी कामनापूर्ति के लिए उन्होंने अपने कुल की एक वृद्धा महिला द्वारा, जो काशीवास कर रही थीं, काशी विश्वनाथ के मन्दिर में प्रतिदिन पूजा और प्रसाद चढ़ाने की व्यवस्था करवा रखी थी।

एक रात्रि को भुवनेश्वरी देवी ने स्वप्न देखा—भगवान् शंकर उनके सामने खड़े थे। वे अपने आराध्य को देखकर भाव-विभोर हो रही थीं कि शंकर एक शिशु के रूप में बदल गये और यह शिशु भुवनेश्वरी की गोद में

आ बैठा। इसके बाद उनकी नींद खुल गयी। वे अपने आराध्य का नाम उच्चारते हुए उठीं। देखा तो प्रभात हो चुका था।

० ० ०

सन् १८६३, जनवरी मास की बारहवीं तारीख। पौष संक्रान्ति का पावन प्रभात। मकर संक्रान्ति के पुण्य पर्व पर महानगरी कलकत्ता के धर्मनिष्ठ नर-नारी ब्राह्ममुहूर्त में उठकर पुण्यतोया गंगा में स्नान करने जा रहे थे। साढ़े छः बजे के लगभग भुवनेश्वरी देवी ने पुत्र को जन्म दिया। सारा घर खुशियों से भर गया। चारों ओर से बधाइयाँ आने लगीं। स्वजन-मित्रों से घर भर गया। सौम्यदर्शन पुत्र का मुख निरखकर माँ की प्रसव-वेदना विलुप्त हो गयी।

आज जन्मे जिस पुत्र से भुवनेश्वरी देवी की कोख भरी थी, उसका नारीत्व फलितार्थ हुआ था, यही बालक आगे जाकर स्वामी विवेकानन्द नाम से लोक-विख्यात हुआ, और उसे जन्म देकर न केवल भुवनेश्वरी देवी की कोख भरी अपितु भारतमाता भी कृतार्थ हुई। कुल-दीपक यह पुत्र आगे चलकर देश और सारी मानवता के यश-गौरव को बढ़ाने वाला निकला।

नामकरण के दिन परिवार के कुछ लोगों ने बालक का नाम 'दुर्गादास' रखने का सुझाव दिया। पर माँ ने शिव के प्रसाद से प्राप्त इस बालक का नाम वीरेश्वर रखने का निश्चय किया। वीरेश्वर को संक्षिप्त करके उसे सभी 'बिले' के प्यार-भरे नाम से पुकारने लगे। बाद में अन्नप्राशन के दिन दूसरा नाम नरेन्द्रनाथ रखा गया। संन्यास की दीक्षा लेने तक 'नरेन्द्रनाथ' नाम ही चलता रहा।

नटखट नरेन्द्र ज्यों-ज्यों बड़ा होता गया, अत्यधिक लाड़-प्यार के कारण शरारती बनता गया। अनेक मनौतियों के बाद जन्मा वह पहला बालक जो चाहता सो पाता। सम्पन्न परिवार था। उसकी किसी भी इच्छा-पूर्ति में कोई रुकावट नहीं थी। इस तरह वह पूरा हठी और मानधन बन गया। उसकी मनमानी शरारतें बढ़ती गयीं। अब तो वह किसी से भी नहीं डरता था। डराने-धमकाने का उस पर कुछ भी तो असर नहीं होता था।

उसकी शरारतों से तंग आकर कभी-कभी भुवनेश्वरी देवी क्षोभ-भरे प्यार से कह उठतीं, "मैं समझती थी कि यह महादेव का अंश है, पर लगता है, यह तो उनके गणों में से कोई भूत-पिशाच है।"

यह बालक किसी की कोई बात मानता नहीं, किसी को कुछ जानता नहीं। यह शिवजी का शापित कोई यक्ष, गन्धर्व, किन्नर है, इसी कल्पना को बढ़ाते हुए माँ ने आगे बात बनायी, "देख बिले, अगर तू ऊधम मचायेगा तो भगवान् शंकर कैलाश में वापस नहीं आने देंगे।" एक-दो बार जब इस तरह कहा गया तो देखा कि यह सुनते ही बालक ऊधम मचाना बन्द कर देता। अब तो माँ को अचूक मन्त्र मिल गया। इसी तरह एक और तरीका बिले को वश करने का माँ ने निकाला। जब वह बहुत तंग करता तो 'शिव-शिव' कहकर माँ उसके सिर पर पानी के छींटे देतीं। इस उपाय से भी बालक तुरन्त शान्त हो जाता।

घर में घोड़ा-गाड़ी थी। नरेन्द्र प्रतिदिन माँ के साथ गाड़ी पर बैठकर घूमने जाता। इस तरह माँ की गोद में बैठकर गाड़ी पर घूमना उसे खूब पसन्द था। गाड़ी में बैठा नरेन्द्र इधर-उधर देखता जाता और हर चीज के बारे में माँ से प्रश्न पूछता जाता। क्या है? क्यों है? कैसे है? प्रश्नों की झड़ी लगा देता। एक के बाद दूसरा प्रश्न। माँ उत्तर देते-देते, समझाते-समझाते थक जातीं, पर बालक का जिज्ञासु मन सदा अतृप्त-अशान्त बना रहता।

गाड़ी पर घूमना, घर के सामने से आती-जाती गाड़ियों को देखना इस बालक का प्रिय काम था। एक दिन यों ही नरेन्द्र के पिताजी ने पूछा, "नरेन्द्र, तू बड़ा होकर क्या बनेगा?" नरेन्द्र ने उत्तर दिया, "कोचवान।" आगे चलकर यह बालक कोचवान ही बना, पर कुछ दूसरी तरह का 'कोचवान'। इन्द्रियरूपी घोड़ों को मन की लगाम लगाकर और बुद्धि को सारथी बनाकर, उन्होंने इस रथ को मनमर्जी के अनुसार घुमाया-फिराया। इन घोड़ों को कभी बेकाबू नहीं होने दिया, लगाम को कभी ढीला नहीं छोड़ा और सारथी कभी लापरवाह नहीं हुआ। रथ को उसके गन्तव्य तक सफलतापूर्वक पहुँचाया।

दोपहर को कुल-परिवार की स्त्रियाँ घर में इकट्ठी होतीं और कथा-वार्ता कहती-सुनतीं। कभी रामायण, महाभारत और पुराणों का पाठ, तो कभी कुछ और। इस अवसर पर ऊधमी बालक का चंचल मन भी एकदम शान्त रहता। वह बड़े मनोयोग से इन कथाओं को सुनता।

नरेन्द्र लोकाचारों को बचपन से ही नहीं मानता था। चौके में चले जाने से भोजन अशुद्ध कैसे हो जाता है? पानी बाएँ हाथ से क्यों नहीं पीना चाहिए? इस तरह के अनेक प्रश्न वह पूछा करता। स्पष्ट है कि ऐसे अनेक प्रश्नों के समाधानकारक उत्तर उसे न मिलते। इससे इन लोकाचारों के पालन के प्रति न केवल उसकी उपेक्षा बढ़ जाती अपितु प्रयत्नपूर्वक वह इन्हें तोड़ता।

बालक के पिताजी के पास सभी जातियों के लोग मुकद्दमों के सिलसिले में आते थे। इनमें एक मुसलमान भी थे। नरेन्द्र इनसे काफी घुल-मिल गया था और वे भी इस बालक से बड़ा स्नेहपूर्ण व्यवहार करते थे। नरेन्द्र जब उनकी लाई हुई मिठाई आदि भी खाने लगा तो परिवार के रूढ़िप्रिय लोग बौखला उठे। पर उदारचेता पिता ने इसका कोई विरोध नहीं किया। नरेन्द्र की समझ में नहीं आता था कि आखिर इस छुआछूत का मतलब क्या है। अगर कोई इसे न माने तो क्या अनर्थ होनेवाला है, यह जानने के लिए एक बार नरेन्द्र ने पिता की बैठक में, विभिन्न जातियों के लिए अलग-अलग रखे हुक्कों को गुड़गुड़ाकर देखा कि देखूँ इसका क्या परिणाम होता है। वह हुक्कों को गुड़गुड़ा ही रहा था कि श्री विश्वनाथ जी आ गये। उनके पूछने पर नरेन्द्र ने सारी बात स्पष्ट रूप से बता दी। सुनकर वे मन्द मुस्करा दिये और पुत्र की जिज्ञासा और मनुष्य-मात्र के प्रति समत्व दृष्टि पर विचार करते हुए चले गये।

माता की देखा-देखी और प्रेरणा से नरेन्द्र भी शिव की पूजा करने लगे। वे मूर्ति के सामने बैठकर आँखें मूँदकर ध्यानमग्न हो जाते। यह मात्र माता का अनुकरण था या बालक के पूर्वजन्म के संस्कार—कौन कह सकता है। कभी-कभी इस पुनीत कार्य में वे अपने साथियों को भी सम्मिलित कर लेते।

एक दिन इस विलक्षण बालक को पता नहीं क्या सूझा कि माँ के पास जाकर बड़े उदास मन से पूछने लगा, "माँ, तुम कई बार कहती हो कि भगवान् शंकर मुझे कैलाश में वापस नहीं आने देंगे। लेकिन, यदि मैं साधु बन जाऊँ, तब तो आने देंगे न ?" माँ ने सहजभाव से उत्तर दिया, "हाँ बेटा, साधु को भला वे क्यों रोकने लगे !" भुवनेश्वरी देवी ने कह तो दिया पर दूसरे ही क्षण उन्हें ध्यान आया कि मैं क्या कह गयी। पुत्र के साधु बन जाने की कल्पना से ही उनका हृदय कराह उठा। यह औघड़ कब क्या कर बैठेगा, कुछ ठीक नहीं। भगवान् शंकराचार्य ने भी कुछ इसी तरह माँ से संन्यास लेने की आज्ञा ली थी। पर उस समय किसे कल्पना थी कि यही बालक शंकर की परम्परा को आगे बढ़ाने वाला और सात समुन्दर पार तक उनके सन्देश को ले जाने वाला सिद्ध होगा।

एक बार जब वह पूजागृह में अपने हमजोलियों के साथ ध्यानमग्न था, एक साथी ने कमरे में भयानक सर्प देखा। उसने दूसरे साथियों को बताया। इस प्रकार सभी साथी जान बचाकर बाहर भागे, पर नरेन्द्र अविचल रहा। घरवालों को पता लगा तो वे भी दौड़ आये। उन्होंने भी नरेन्द्र को पुकार-पुकारकर सर्प की बात बतायी, पर नरेन्द्र ज्यों-का-त्यों ध्यानमग्न बैठा रहा। उधर सर्प भी भयानक फन ताने पास बैठा रहा। घर के लोग इस विस्मयजनक और भयप्रद दृश्य को देखकर चिन्तित थे। थोड़ी देर बाद साँप अपने-आप चला गया। उधर नरेन्द्र का ध्यान जब टूटा तो घरवालों से साँप की बात सुनकर उसने कहा—मुझे तो कुछ पता नहीं, मैंने तो किसी की आवाज़ सुनी नहीं।

यह एक विचित्र संयोग था कि यह चंचल और हठीला बालक, जिसे वश में करना एक समस्या बन गयी थी, ध्यान के लिए बैठते ही अपनी सारी स्वभावगत वृत्तियों को भूलकर एकाग्र हो जाता था और निर्वात स्थान में रखे दीपक की तरह अविचल, अचेतन जैसी स्थिति में पहुँच जाता था।

बाद में एक बार उन्होंने बताया था कि बचपन में ध्यान के लिए बैठते ही दोनों भौंहों के बीच उन्हें एक ज्योतिष्पिण्ड-सा दिखायी देने लगता था। यह बात रात को सोते समय भी होती थी। पर नरेन्द्रनाथ समझते थे कि

शायद सभी को ऐसा होता होगा और यह सामान्य बात होगी। उन्हें कभी यह नहीं लगा कि मुझमें कुछ विलक्षणता है।

अनेक बार वे अपनी चीजें साधुओं-संन्यासियों को दे देते। इस पर घर में झिड़कियाँ भी मिलतीं, पर नरेन्द्र पर इसका कोई प्रभाव न पड़ता। वह अवसर आने पर फिर अपनी चीज किसी साधु को देते समय तनिक भी न झिझकता। कभी-कभी वह लंगोट बाँधकर और शरीर में भभूत लगाकर 'बं-बं महादेव, हर-हर महादेव, जयशिव-जयशिव' कहकर ताली बजाने और नाचने लगता। माँ जब बालक की इस बालयोगी जैसी मूर्ति को देखतीं तो क्रोधित होने के बजाय हँसने लगतीं। जाने उनका क्रोध कहाँ चला जाता।

इस तरह की अनेक बाल-लीलाएँ करने वाले नरेन्द्र पर माँ को कभी क्रोध और क्षोभ आ घेरता, कभी वे विस्मित-सी देखती रह जातीं और कभी हृदय के अनेक भाव परस्पर मिलकर एक विचित्र भाव की सृष्टि करते। वे इस बालक के भविष्य की चिन्ता करती-करती अपने से भी कह उठतीं, 'मैं चिन्ता करने वाली कौन हूँ! भगवान् की जो इच्छा होगी, वही तो होगा। मैं क्यों चिन्ता करूँ!'

रामायण-महाभारत के अनेक प्रसंग नरेन्द्र को श्रुति-परम्परा से ही कण्ठस्थ हो गये थे। बाउल सन्तों के अनेक भजन-कीर्तन सुनकर ही कंठस्थकर लिए थे और वह तन्मय होकर बड़े ही मधुर स्वर में उन्हें गाता था।

रामायण के पात्रों में महावीर हनुमान का चरित्र उसे सबसे अधिक पसन्द था। ब्रह्मचारी, सेवाव्रती, स्वामी-भक्ति का जीवन्त रूप, असम्भव को सम्भव कर दिखाने वाला— उनकी एक-एक बात को सोचकर नरेन्द्र का मन मुग्ध हो जाता। उसने माँ से सुन रखा था कि हनुमानजी अमर हैं। अमर हैं अर्थात् जीवित हैं। नरेन्द्र ने सोचा, अगर यह बात है तब तो उनसे मिलना चाहिए। पर उसे पता नहीं था कि वे मिलेंगे कहाँ। नरेन्द्र के मन-प्राण हनुमानजी से मिलने के लिए व्याकुल हो उठे।

एक दिन कथावाचक पण्डितजी हनुमानजी के चरित्र का वर्णन कर

रहे थे। वे कह रहे थे, "फलों का भोजन उन्हें खूब पसन्द है। वे बाग-बगीचों में अधिक रहते हैं।" इसी समय नरेन्द्र पण्डितजी के पास पहुँचा और पूछने लगा—"पण्डितजी, क्या हनुमानजी केलाबाड़ी में मिलेंगे? वहाँ वे केले खाने अवश्य आते होंगे।"

पण्डितजी ने टालने के भाव से यों ही कह दिया, "हाँ, हाँ, अवश्य मिलेंगे।" बालक की बात पर कौन ध्यान देता है। नरेन्द्र वहाँ से सीधा केलाबाड़ी चला गया और हनुमानजी को खोजने लगा। फिर वह एक जगह बैठ गया और सोचने लगा कि शायद अभी आते ही होंगे। पर हनुमानजी नहीं आये। अन्धेरा होने पर निराश बालक घर वापस लौट आया। घर आकर सारी बात माँ को बतायी। माँ ने बच्चे के विश्वास को बनाये रखने के लिए कहा, "क्या पता रामजी ने कहीं काम से उन्हें भेज दिया हो। वे रामजी के सेवक हैं न। फिर कभी देख लेना। सम्भव है, मिल जाएँ।" बच्चे के निराश मन को तनिक सन्तोष मिला। कौन जाने फिर कभी वे हनुमान जी को ढूँढ़ने केलाबाड़ी गये या नहीं; पर बचपन में हनुमान के चरित्र पर उनके मन पर जो प्रभाव पड़ा था, वह आगे चलकर और भी पक्का हो गया। वे अपने साथियों और शिष्यों को हनुमान जैसा निष्काम सेवाव्रत ग्रहण करने की सलाह देते थे।

छठे वर्ष में प्रवेश करने पर घर पर ही नरेन्द्र की शिक्षा आरम्भ हो गयी। पर नटखट नरेन्द्र को पढ़ाने-लिखाने में गुरुजी को कठिनाई अनुभव हुई। वे तो ताड़न को ही शिक्षा का आवश्यक अंग मानते थे और स्वच्छंद नरेन्द्र इससे और भी अड़ियल बन जाता था। कुछ समय बाद गुरुजी समझ गये कि यहाँ डण्डे से काम चलने वाला नहीं। उन्होंने अपनी पुरानी चाल छोड़ी और बिना मार-पीट के स्नेहपूर्वक पढ़ाने लगे। इसका अच्छा परिणाम निकला। प्राथमिक शिक्षा घर पर समाप्त करके, मैट्रोपोलिटन इन्स्टीट्यूट में शिक्षा होने लगी। यहाँ की बाल-मण्डली को पाकर नरेन्द्र की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। नए-नए मित्र, नए-नए खेल। ये नए-नए साथी घर पर भी आ जाते और खूब धमाचौकड़ी मचती। नरेन्द्र सहज ही एक बाल-टोली का नेता बन गया।

प्रारम्भ में तो नरेन्द्र को यह सब बड़ा अच्छा लगा, किन्तु ज्योंही पाठशाला का अनुशासन बढ़ने लगा तो स्वेच्छाचारी नरेन्द्र का मन विद्रोह कर उठा। नरेन्द्र को तो एक आसन पर अधिक देर बैठने, एक स्थान में अधिक देर ठहरने का अभ्यास था नहीं। वहाँ कक्षा में बैठना पड़ता। छः घण्टे पाठशाला में काटने पड़ते। उसे यह सब जी का जंजाल लगता। वह जरा-सी देर बैठ जाने पर यों ही उठ खड़ा होता। फिर यों ही बाहर चला जाता। कभी खीझने पर पुस्तक फाड़ डालता। इस ऊधमी छात्र से अध्यापक खीझ उठे। यहाँ भी अध्यापकों ने कठोर शासन के बदले प्रेमपूर्ण व्यवहार का प्रयोग करना शुरू किया। इससे कुछ लाभ हुआ।

नरेन्द्र को डर तो छू तक नहीं गया था। वह किसी से भी नहीं डरता था। माता-पिता प्रायः बच्चों को भूत का भय दिखाकर डराते हैं, पर वह तो भूत-प्रेत से भी भय नहीं मानता था। दूसरी आदत थी जिद्दीपन। अपनी बात पर अड़ जाता। आगे चलकर यह जिद्दीपन दृढ़ता में बदल गया। तीसरा गुण था अगुआ बनने का। अपनी मण्डली का तो वह अगुआ था ही। खेल-कूद में बालक झगड़ पड़ते तो नरेन्द्र उनका न्याय करता। अगर समझाने-भर से न मानते, मार-पीट करने लगते तो बीच में पड़कर बलपूर्वक छुड़ा देता। शरीर से हृष्ट-पुष्ट इस साथी का दूसरे बालक वैसे भी भय मानते थे।

नरेन्द्र के पड़ोस में उनके एक साथी बालक का घर था। उनके घर में चम्पा के फूल का एक पेड़ था। नरेन्द्र इस पेड़ पर चढ़ जाता और जाँघों की कैंची में पेड़ की डाल को लेकर उलटा लटककर झूलने लगता। एक दिन नरेन्द्र इसी तरह चमगादड़ जैसा उलटा लटका एक ऊँची डाल से झूल रहा था। घर के मालिक एक वृद्ध महाशय ने जब देखा तो डर के मारे उनका कलेजा काँप उठा। अगर यह बालक गिर पड़े तो इसका सिर फट जाएगा। यह कल्पना ही उनके डर का कारण थी। पर वह यह भी जानते थे कि मना करने से यह रुकेगा नहीं। यही सोचकर उन्होंने कहा—"बेटा, आगे से इस पेड़ पर कभी न चढ़ना। इस पर ब्रह्मराक्षस रहता है।" ब्रह्मराक्षस के विकराल रूप का वर्णन भी उन्होंने किया ताकि नरेन्द्र डर जाए।

यह भी समझाया कि इस पर ब्रह्मराक्षस का वास है, इसलिए अगर कोई इस पर चढ़ता है तो ब्रह्मराक्षस को क्रोध आ जाता है। नरेन्द्र को चुप देखकर उन्होंने समझा कि बच्चे पर असर हुआ है, पर उनके जाते ही नरेन्द्र फिर पेड़ पर चढ़ बैठा और साथी से कहने लगा—"आज तो ब्रह्मराक्षस को देखकर ही जाऊँगा।" पर साथी डर गया। उसने कहा—"न बाबा, ब्रह्मराक्षस हमें मार डालेगा।" इस पर नरेन्द्र ने हँसते हुए कहा—"अरे, ये सब बातें हम लोगों को डराने के लिए कही जाती हैं। उस ब्रह्मराक्षस ने आज तक किसी को मारा भी है!"

o o o

चौदह वर्ष की अवस्था में नरेन्द्र पेट की खराबी से बीमार रहने लगा। इस रोग के कारण इसका स्वास्थ्य दिनों-दिन गिरता गया और शरीर सूखकर हड्डियों का ढांचा-मात्र रह गया। नरेन्द्र के पिता इन दिनों कलकत्ता में नहीं थे। वे मध्यप्रदेश में रायपुर नामक स्थान में थे। चिकित्सकों ने नरेन्द्र को जलवायु परिवर्तन की सलाह दी थी। अतः विश्वनाथ जी ने अपने परिवार को रायपुर बुलवा लिया।

इन दिनों रायपुर में कोई पाठशाला नहीं थी। इसलिए श्री विश्वनाथ घर पर ही स्वयं नरेन्द्र को पढ़ाते। उसके स्वास्थ्य में भी सुधार हुआ। विश्वनाथजी के पास इन दिनों पर्याप्त अवकाश था, इसलिए रायपुर के विचारशील लोगों के साथ ज्ञान-चर्चा में उनका काफी समय बीतने लगा। इस विचार-गोष्ठी में प्रायः नरेन्द्र उपस्थित रहता और सभी बातें ध्यान से सुनता। कभी-कभी नरेन्द्र भी इस चर्चा में सम्मिलित होता और अपनी समझ-बूझ के अनुसार बात करता। कई बार वह अपने युक्तियुक्त विचारों से विद्वन्मण्डली को आश्चर्यचकित कर देता। पिता पुत्र की वाग्विदग्धता से आनन्दविभोर हो उठते।

नरेन्द्र ने अब तक बंगला भाषा की सभी प्रमुख पुस्तकों को पढ़ लिया था। वह जो कुछ पढ़ता, उसे भली प्रकार हृदयंगम कर लेता। स्मरणशक्ति तो उसकी कमाल की थी।

उसके बचपन की एक घटना है। कक्षा में अध्यापक महोदय पढ़ा रहे

थे। उधर नरेन्द्र अपने सहपाठियों के साथ गप्पें मारने में लगा हुआ था। अध्यापक महोदय ने देख लिया। उन्होंने बातें कर रहे छात्रों को खड़ा होने का आदेश दिया। फिर पूछने लगे कि बताओ, मैं क्या पढ़ा रहा था? नरेन्द्र से पूछने पर उसने ठीक-ठीक बता दिया। इस पर अध्यापक ने समझा कि यह निर्दोष है। उसे बैठा दिया। शेष को खड़ा रहने की आज्ञा दी। कुछ देर बाद नरेन्द्र को भी खड़ा देखकर अध्यापक ने पूछा कि तुम क्यों खड़े हो? तुम्हें तो मैंने बैठ जाने को कहा था। इस पर नरेन्द्र ने कहा कि बातें तो मैं ही कर रहा था। ये तो केवल सुन रहे थे। इसलिए मुझे भी सजा मिलनी चाहिये। यह घटना विलक्षण प्रतिभा और सत्य के प्रति निष्ठा का सुन्दर उदाहरण है।

विश्वनाथ चाहते थे कि नरेन्द्र की प्रतिभा का पूर्ण विकास हो और वह केवल स्कूली पढ़ाई तक सीमित न रहे। इसलिए वे पुत्र के साथ अनेक विषयों पर वाद-विवाद और तर्क-वितर्क करते। इस तरह नरेन्द्र की प्रतिभा विकसित और पल्लवित होने लगी।

पिता की उदारता, ज्ञान-गरिमा और पर-दुःख-कातरता का नरेन्द्र पर विशेष प्रभाव पड़ा। नरेन्द्र दो वर्ष तक रायपुर में रहकर कलकत्ता लौट आये। नरेन्द्र के किशोर मन को सुसंस्कृत बनाने में इन दो वर्षों का बड़ा महत्त्व है।

सोलह वर्ष के नरेन्द्र के हृष्ट-पुष्ट शरीर को देखकर लोगों को उसकी अवस्था के बारे में भ्रम होने लगता था। वह बीस वर्ष का दिखाई देता था। इन्हीं दिनों नरेन्द्र को व्यायाम का शौक हुआ और वह प्रतिदिन व्यायाम-शाला जाने लगा। इससे शरीर और भी पुष्ट और बलिष्ठ हो गया। अपने खिलाड़ी साथियों में भी वह अग्रणी गिना जाने लगा। एक बार उसने घूँसेबाजी में पुरस्कार प्राप्त किया। क्रिकेट खिलाड़ियों में भी उन दिनों कलकत्ता में उसका अच्छा नाम था।

दो वर्ष तक रायपुर में रहने के कारण नरेन्द्र स्कूल की पढ़ाई में पिछड़ गया था। अतः प्रवेशिका श्रेणी में प्रवेश मिलने में कठिनाई हुई। पर शिक्षकों के विशेष प्रयत्न से प्रवेश मिल गया। उसने दो वर्ष के पाठ्यक्रम

को घोर परिश्रम के साथ एक ही वर्ष में पूरा कर लिया और सफलतापूर्वक प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हो गया। शिक्षकगण और परिवार के लोग इस सफलता पर बहुत प्रसन्न हुए। सारे स्कूल में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होने का श्रेय केवल नरेन्द्र को ही मिला था।

मैट्रोपोलिटन इन्स्टीट्यूट के एक शिक्षक अवकाश ग्रहण करने वाले थे। नरेन्द्र ने अपने सहपाठियों के सहयोग से उनका अभिनन्दन करने का निश्चय किया। स्कूल के वार्षिक पुरस्कार-वितरण-समारोह के दिन ही इस अभिनन्दन का भी आयोजन था। श्री सुरेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय इस सभा की अध्यक्षता कर रहे थे। वे अपने समय के प्रसिद्ध वक्ता थे। छात्रों की ओर से कोई भी सभा में बोलने की हिम्मत नहीं कर रहा था। अन्त में निश्चय हुआ कि नरेन्द्र ही भाषण करेगा। नरेन्द्र ने आध घण्टे के अपने भाषण में अपने शिक्षक महोदय के गुणों पर प्रकाश डाला और अन्त में छात्रों की ओर से भावभरी श्रद्धांजलि देकर और उनके विछोह से उत्पन्न दुःख का वर्णन करके बैठ गया। श्री सुरेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय ने उसकी वक्तृता की बड़ी प्रशंसा की।

अपनी वक्तृत्व-शक्ति से संसार-भर में धाक जमाने वाले स्वामी विवेकानन्द में यह गुण किशोरावस्था में दिखाई देने लगा था।

वास्तव में नरेन्द्र में बचपन से ही जिस मूल शील-सम्पत्ति का बीजारोपण हुआ था, वह था आत्मविश्वास—ऐसा प्रबल आत्मविश्वास, जिसके सामने कोई भी बाधा टिकती नहीं थी। ऐसा आत्मविश्वास, जिसके बल-बूते पर मनुष्य में छिपी अनन्त शक्ति का प्रस्फुटन होता है।

माता-पिता ने पुत्र के चरित्र-निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। अनावश्यक विधि-निषेधों से उसके सहज विकासशील मन-मस्तिष्क को अवरुद्ध नहीं होने दिया था।

कई बार ऐसा लगता था कि यह किशोर घमण्डी, उच्छृंखल प्रकृति का है, पर यह नरेन्द्र की आत्मविश्वास और आत्मसम्मान की ही प्रवृत्ति थी, जिसके कारण उसे समझने में भ्रान्ति की सम्भावना बनी रहती थी।

साधना काल

१८७९ में अठारह वर्ष की अवस्था में नरेन्द्रनाथ प्रेजिडेंसी कॉलिज में प्रविष्ट हुआ, पर मलेरिया ज्वर के भयानक प्रकोप के कारण पढ़ाई नहीं हो सकी। रोग के कारण कॉलिज छोड़ना पड़ा। एक वर्ष बेकार गया। अगले वर्ष असेम्बली इन्स्टीट्यूशन में प्रविष्ट हुआ और एफ० ए० में पढ़ने लगा। अपने गुणधारक व्यक्तित्व के कारण वहाँ पर अपने सहपाठियों और अध्यापकों में उसने सहज ही अपना विशेष स्थान बना लिया।

प्रभावशाली व्यक्तित्व, जिसमें देवदार की तरह सीधा तना हुआ पुष्ट शरीर, तेजोदीप्त मुखमण्डल, गम्भीर और मधुर स्वरलहरी सहज ही दूसरों को प्रभावित कर लेते थे। स्पष्टवक्ता नरेन्द्र औपचारिकतापूर्ण वार्तालाप का विरोधी था। वह सच्ची बात को मुँह पर कहने का अभ्यस्त था। उसकी आलोचना बड़ी निर्मम होती थी। पर इस निर्ममता में ईर्ष्या और द्वेष का भाव लेशमात्र भी नहीं होता था। यही कारण है, उसके मुँह से आलोचना सुनकर भी सभी उसे अपना मित्र ही मानते थे।

नवयुवकों में नारी-सुलभ कोमलता, बनाव-शृंगार और इसी प्रकार की दूसरी प्रवृत्तियों को देखकर नरेन्द्र तीखे शब्दों में आलोचना करने लगता था।

व्यायाम, खेल-कूद और संगीत में नरेन्द्र की विशेष रुचि थी। अध्ययन में कुशाग्रबुद्धि नरेन्द्र थोड़े ही समय में अपना अध्ययन-कार्य पूरा कर लेता था और व्यायाम, खेल, संगीत तथा सहपाठियों के साथ गपशप करने के लिए उसके पास काफी समय बच जाता था।

नरेन्द्र जब गंभीर अध्ययन में लगा होता तो वह एक दूसरा ही व्यक्ति दिखायी देता। एफ० ए० के प्रथम वर्ष में ही उसने पश्चिम की प्रमुख दार्श-

निक विचारधाराओं को भली प्रकार समझ लिया था। जनरल असेम्बली कॉलिज के दर्शन विभाग के अध्यक्ष विलियम हेस्टी महोदय ने, जोकि अपने विषय के प्रकाण्ड पण्डित थे, नरेन्द्र के बारे में एक बार कहा था कि दर्शन का ऐसा मेधावी छात्र यूरोप के किसी भी विश्वविद्यालय में नहीं मिलेगा।

पाश्चात्य दार्शनिक विचारधाराओं के विवेचनात्मक अध्ययन ने नरेन्द्र के भारतीय दर्शन पर आधारित विचारों को झकझोरकर रख दिया।

डेकार्ट का अहंवाद, ह्यूम और बेन की नास्तिकता, डार्विन का विकास-वाद और स्पेंसर का अज्ञेयवाद इनमें से कौन सत्य है? इस जिज्ञासा-भाव ने नरेन्द्र के मन-मस्तिष्क को उद्वेलित कर दिया। अन्त में वह इस निश्चय पर पहुँचा कि केवल विचार-बुद्धि की सहायता से दार्शनिक तत्त्वों की मीमांसा करने भर से काम नहीं चलेगा। इस इन्द्रियग्राह्य भौतिक जगत् से परे यदि कोई महान् सत्ता है, कोई सर्वनियन्ता है तो उसके बारे में पहले निश्चय हो जाना चाहिये। वह है या नहीं? क्या है? कैसा है? उसने मानव-जीवन की सृष्टि किस उद्देश्य से की? इन जटिल प्रश्नों ने उसे विकल कर दिया।

नरेन्द्र की भेंट जब किसी साधु-संन्यासी, धर्म-प्रचारक या भगवद्भक्त से होती तो वह उनसे पूछ बैठता, "क्या आपने ईश्वर-साक्षात्कार किया है?" पर इस प्रश्न का सीधा 'हाँ' या 'न' में कोई उत्तर न देता। वे गुणी-जन शास्त्र-वचनों से समझाने का प्रयत्न करते, पर इससे नरेन्द्र को संतोष कहाँ! बहुत प्रयत्न करने पर भी उसे कोई ऐसा महात्मा पुरुष नहीं मिला जो यह कहता कि मैंने ईश्वर-साक्षात्कार किया है।

इन दिनों बंगाल में ब्रह्मसमाज का प्रचार जोरों पर था। नरेन्द्र भी अपनी जिज्ञासा की पूर्ति के लिए उसमें सम्मिलित हुआ, पर निराश लौटा। वह महर्षि देवेन्द्रनाथ तथा बाबू केशवचन्द्र सेन के पास भी आता-जाता था और विविध विषयों पर चर्चा किया करता था। राजा राममोहन राय द्वारा लिखित पुस्तकों का उसने मननपूर्वक अध्ययन किया, पर जिज्ञासा शान्त नहीं हुई। कॉलिज का यह नवबुध, दर्शन का छात्र, तर्क और युक्ति द्वारा हर बात को परखता। किसी की बात को यों ही स्वीकार कर लेना

उसे मान्य नहीं था।

एक दिन महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने नरेन्द्र को ध्यान का अभ्यास करने की सलाह दी। उन्होंने यह भी कहा कि उसके आकृति-लक्षण योगियों जैसे हैं। सतत ध्यान लगाने से ही तुम्हें स्थायी शान्ति प्राप्त होगी। श्रद्धेय महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के प्रति नरेन्द्र के मन में बड़ी श्रद्धा थी। अतः उनके उपदेश से नरेन्द्र ने ध्यानयोग की ओर विशेष ध्यान देना प्रारंभ किया। इसके साथ ही उसने कुछ अन्य व्रत-नियमों का पालन भी प्रारम्भ कर दिया। शाकाहार, परिमित भोजन, भूमिशय्या और देसी पहरावा उसने अपनाया। ध्यान में मन को एकाग्र करने के लिए नरेन्द्र को विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता था। पूर्वजन्म के संस्कारवश ध्यानयोग में वह सहज ही मग्न हो जाता था।

वह इन दिनों अपने पैतृक मकान के पास ही एक दूसरे किराए के मकान में रहता था। इससे पर्याप्त एकान्त मिल जाता था और ध्यान-भजन में भी सुविधा होती थी। परिवार वाले भी समझते थे कि घर में भीड़-भाड़ के कारण नरेन्द्र को पढ़ाई में असुविधा होती है। वैसे भी नरेन्द्र के पिता श्री विश्वनाथ स्वाधीनचेता पुत्र की इच्छा में बाधा नहीं देते थे।

इसी प्रकार दिन बीतते गए, पर सत्य की जिज्ञासा शान्त हो बदले दिनों-दिन बढ़ती गयी। अन्त में वह इस निश्चय पर पहुँचा कि जटिल गुत्थी बिना किसी योग्य गुरु के नहीं सुलझ सकती। जिसने स्वयं इस सत्य का साक्षात्कार किया हो, वही दूसरों को भी साक्षात्कार करा सकता है। इसी भावोन्माद में वह अशान्त रहने लगा। उसकी समझ में नहीं आता था कि ऐसा तत्त्वदर्शी उसे कहाँ और कब मिले जो उसे परम-सत्य का साक्षात्कार करवा दे, जिसे जान लेने के बाद और कुछ जानने की आवश्यकता नहीं रहती।

o o o

नरेन्द्र के पड़ोस में ही सुरेन्द्रनाथ मिश्र रहते थे। वे एक दिन श्री रामकृष्ण परमहंस को अपने घर ले आये। उन्होंने एक सत्संग-गोष्ठी का आयोजन किया। पर भजन-गायन के लिए उन्हें कोई योग्य गायक नहीं

मिला। इसलिए वे नरेन्द्र को ही बुला लाये। इसी दिन नरेन्द्रनाथ का श्री रामकृष्ण परमहंस से प्रथम परिचय हुआ। यह घटना १८८१ ई० के नवम्बर मास की है। नरेन्द्रनाथ के मधुर कंठ से भावपूर्ण गायन सुनकर श्री रामकृष्ण परमहंस बहुत प्रसन्न हुए। वहाँ से जाते समय परमहंसजी ने नरेन्द्र से दक्षिणेश्वर मन्दिर में, जहाँ वे रहते थे, आने के लिए कहा। परन्तु एफ० ए० की परीक्षा की तैयारी में व्यस्त रहने के कारण नरेन्द्रनाथ दक्षिणेश्वर नहीं जा सका और वहाँ जाने की बात एक तरह से भूल-सा गया।

एफ० ए० की परीक्षा समाप्त हो गयी। नरेन्द्र के पिताजी के पास रिश्ते के लिए कई लड़की वाले आने लगे। श्री विश्वनाथजी को उनमें से एक धनी-मानी परिवार पसन्द आया। लड़की के पिता दहेज में नकद दस हजार देने की बात कह गये थे, पर श्री विश्वनाथजी इस स्वाधीनचेता पुत्र से बिना पूछे रिश्ता करना नहीं चाहते थे। उन्होंने नरेन्द्र से स्वयं न पूछकर अन्य एक सम्बन्धी द्वारा विवाह करने के सम्बन्ध में उसके विचार जानने का प्रयत्न किया। नरेन्द्र ने परमसत्य को जानने की अपनी विकलता की बात उन्हें बतायी और यह भी कहा कि विवाह को वे इस मार्ग की बाधा समझते हैं। ये सम्बन्धी, जिनका नाम रामचन्द्र दत्त था, श्री रामकृष्ण परमहंस के अन्यतम गृहस्थ शिष्यों में से थे। उन्होंने नरेन्द्र की परमतत्त्व की जिज्ञासा से उत्पन्न अशान्ति को पूरी गम्भीरता से समझकर, सुझाव दिया—"तुम दक्षिणेश्वर में श्री रामकृष्ण देव के पास जाओ। वे ही तुम्हें सत्पथ बता सकते हैं।" उनकी बात नरेन्द्रनाथ को ठीक लगी और थोड़े ही दिनों बाद वह अपने तीन-चार मित्रों के साथ दक्षिणेश्वर में श्री रामकृष्ण देव के पास गया।

नरेन्द्रनाथ को देखते ही श्री रामकृष्ण देव उससे इस ढंग से बातचीत करने लगे जैसे इन दोनों का काफी पुराना परिचय हो। नरेन्द्रनाथ ने वहाँ कुछ भजन भी गाये। इस सबके बाद श्री रामकृष्ण देव नरेन्द्रनाथ को अलग ले जाकर कहने लगे, "तू इतने दिनों तक मुझे भूल कैसे सका! कब से मैं तेरी प्रतीक्षा कर रहा था।" यह कहते-कहते उनकी दोनों आँखों में आँसू उमड़

आये; पर नरेन्द्रनाथ की समझ में कुछ नहीं आ रहा था। वह हतबुद्धि-सा विस्मयपूर्वक श्री रामकृष्ण देव की ओर देख रहा था। उन्होंने जो कुछ कहा, उसका क्या उत्तर दे—वह कुछ निश्चय नहीं कर सका।

पर श्री रामकृष्ण देव भावविभोर हो, गद्गद कण्ठ से और भी विस्मय-वर्द्धक बातें कहे जा रहे थे, "मैं जानता हूँ, तुम सप्तर्षिमण्डल के ऋषि हो, नररूप में अवतरित नारायण हो, जीवों के कल्याण के लिए ही तुमने देह धारण की है।"

नरेन्द्रनाथ को ये सब बातें उन्मत्त के प्रलाप जैसी लगीं। कहाँ मैं श्री विश्वनाथजी का पुत्र—सामान्य जन—नरेन्द्रनाथ और कहाँ इनकी कल्पना का महापुरुष, अवतारी पुरुष! नरेन्द्रनाथ को इन बहकी-बहकी बातों का कुछ अर्थ समझ में न आया।

इसके बाद श्री रामकृष्ण भक्त-मण्डली में लौट गये और सहज भाव से बातचीत करने लगे। नरेन्द्र बड़े ध्यान से देखता रहा कि इस महात्मा में पागलपन का तो कुछ भाव नहीं है। पर उसे ऐसी कोई बात उनके व्यवहार में दिखायी नहीं दी—नरेन्द्र उनके एकान्त के कथन पर सोचते-सोचते घर लौट आया।

बड़े-बड़े विचारकों और नेताओं को प्रभावित कर सकने वाले परम-हंस रामकृष्ण के बारे में सोचते-सोचते नरेन्द्र कुछ भी निश्चय न कर सका। उसकी दुविधा ज्यों-की-त्यों बनी रही। उसके बारे में उनके पागल जैसे प्रलाप को वह क्या समझे! अन्त में उसने यही निश्चय किया कि इस महात्मा का और बारीकी से निरीक्षण किया जाए। इस घटना के बाद नरेन्द्र का मन दक्षिणेश्वर के इस पागल पुजारी से मिलने के लिए बेचैन रहने लगा। वह चुम्बकीय आकर्षण से खिंचकर बार-बार दक्षिणेश्वर जाने लगा। श्री रामकृष्ण देव के शिशु-तुल्य सरल व्यवहार, नम्र स्वभाव, निःस्वार्थ प्रेम ने नरेन्द्रनाथ को बहुत प्रभावित किया। इस प्रबल आकर्षण और प्रभाव के होते हुए भी नरेन्द्रनाथ की तार्किक बुद्धि, सशंक हृदय उन्हें अपना एकमात्र गुरु और आदर्श न मान सका। उसकी दुविधा समाप्त नहीं हुई। मन के संशय, ऊहापोह का उच्छेद नहीं हुआ।

नरेन्द्रनाथ यथावत् ब्राह्मसमाज का सदस्य बना रहा। ब्रह्म की एकमात्र निराकार उपासना में उसकी आस्था बनी रही। मूर्तिपूजा—साकार की उपासना उसे नहीं रुचि। श्री रामकृष्ण परमहंस ने भी साकार की उपासना के लिए कभी उससे आग्रह नहीं किया। एक बार ब्राह्मसमाज के अपने साथी राखालचन्द्र घोष को उसने दक्षिणेश्वर में मूर्ति को प्रणाम करते देखा। इस पर नरेन्द्रनाथ बिगड़ उठा, क्योंकि ब्राह्मसमाज का सदस्य होने के नाते राखालचन्द्र घोष ने भी एकमात्र निराकार ब्रह्म की उपासना की प्रतिज्ञा की हुई थी। राखाल घोष की मूर्ति-वन्दना का विरोध करते देख श्री रामकृष्ण ने कहा—"तुम्हें नहीं रुचता तो तुम मत करो, पर दूसरों को रोकने का अधिकार तुम्हारा नहीं है। जिसका मन साकार की भक्ति में रमता हो, वह तुम्हारे निराकार को लेकर क्या करे! यह प्रत्येक की निजी भावना का प्रश्न है।" नरेन्द्र इस मीठी झिड़की को सुनकर चुप रह गया।

श्री रामकृष्ण जानते थे कि इस युवक के द्वारा लोकोपकार के अनेक कार्य सम्पन्न होने वाले हैं। वे अपने ज्ञानानुभव से यह भी भली-भाँति जानते थे कि विभिन्न धर्म—मत-सम्प्रदाय विभिन्न साधनाओं द्वारा एक ही जगन्नियन्ता की आराधना करते हैं, वही सबका प्राप्य है। और इस भाव-भूमि के प्रचार के लिए नरेन्द्रनाथ को वह सर्वथा उपयुक्त व्यक्ति समझते थे। इसलिए वे धीरे-धीरे उसे वेदान्त का उपदेश देते रहते थे। पर वेदान्त का 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ही ब्रह्म हूँ) यह आधारमन्त्र उसके गले नहीं उतरता था। इतना ही नहीं, वह इसका विरोध भी करता था और अनुचित गर्वोक्ति भी समझता था। वह द्वैतवाद (जीव और ब्रह्म दो हैं) को मानता था। वेदान्त अद्वैतवाद (जीव और ब्रह्म की एकता) को मानता है।

श्री रामकृष्ण देव के कई बार यह कहने पर भी कि तुम विशेष कार्य करने के लिए आये हो, नरेन्द्र इस कथन पर विश्वास नहीं करता था। वह इन बातों को इस पुजारी का प्रलाप-मात्र समझता था।

एक दिन दक्षिणेश्वर में अनेक भक्त एकत्र थे। नरेन्द्र भी वहाँ उपस्थित था। श्री रामकृष्ण कहने लगे, "केशवचन्द्र सेन ने जिस शक्ति के द्वारा प्रतिष्ठा प्राप्ति की है, नरेन्द्र में उससे अठारह गुणा शक्ति विद्यमान है। वे

ज्ञान-दीप हैं तो नरेन्द्र ज्ञान-सूर्य।"

नरेन्द्रनाथ ने तत्काल इसका प्रतिवाद किया—"आप कैसी असंगत बात कह रहे हैं। कहाँ विश्वविख्यात केशवचन्द्र सेन और कहाँ मैं कॉलेज में पढ़ने वाला छोकरा। लोग सुनेंगे तो इसे आपके मस्तिष्क का विकार कहेंगे।" इस पर परमहंस मुस्कराकर बोले, "मैं अपनी ओर से थोड़े ही कह रहा हूँ। जैसा माँ ने दिखा दिया, वैसा मैंने बतला दिया।" पर इस पर भी नरेन्द्र नहीं माना। बोला, "माँ ने दिखा दिया, या कल्पना-लोक में देख लिया, क्या पता।"

दक्षिणेश्वर में रामकृष्ण परमहंस के पास धर्मतत्त्व की चर्चा करने अनेक ब्राह्म आते थे। इनमें से अनेक उनसे प्रभावित होकर ब्राह्मसमाज को छोड़ने लगे। यह देख ब्राह्मसमाज के नेताओं ने अपने सदस्यों को दक्षिणेश्वर में रामकृष्ण देव के पास जाने की मनाही कर दी। नरेन्द्र ब्राह्मसमाज के सदस्य थे, इसलिए उन पर भी यह प्रतिबन्ध लगा। ब्राह्मसमाज के एक नेता श्री शिवनाथजी ने नरेन्द्र को समझाते हुए कहा, "कठोर नियमों के पालन से, शरीर को तरह-तरह के कष्ट देने से रामकृष्ण देव का मस्तिष्क बिगड़ गया है। वे जो समाधि की, माँ की और अन्य जो असंगत बातें करते हैं, उसका कारण मस्तिष्क-विकार ही है।" पर नरेन्द्र की समझ में नहीं आया कि रामकृष्ण परमहंस को पागल समझे तो कैसे।

नरेन्द्र ब्राह्मसमाज के नेताओं से भली प्रकार परिचित था और उनके चरित्र, विद्वत्ता आदि पर श्रद्धा भी रखता था, पर यह नहीं समझता था कि इतने दिनों से ब्राह्मसमाज की पद्धति से ध्यान-उपासना करने पर चित्त को शान्ति क्यों नहीं मिली।

एक दिन भगवत्-प्राप्ति के लिए व्याकुल होकर नरेन्द्रनाथ घर से निकल पड़ा। महर्षि देवेन्द्रनाथ उन दिनों गंगा में नौकावास कर रहे थे। नरेन्द्र सीधा उनके पास पहुँचा। नौकागृह के किवाड़ बन्द थे। नरेन्द्र ने खटाक से किवाड़ खोल दिये। महर्षि उस समय ध्यानमग्न थे। किवाड़ खुलने का शब्द सुनकर वे चौंक उठे। ध्यान टूट गया। देखा तो सामने पागल-सा नरेन्द्र खड़ा है। इससे पहले कि महर्षि उससे कुछ पूछते, उसने

दो टूक प्रश्न किया, "क्या आपने ईश्वर का साक्षात्कार किया है ?" महर्षि उत्तर देने के लिए दो बार प्रस्तुत हुए, किन्तु शब्द होंठों से बाहर नहीं निकले। अन्त में वे सीधा उत्तर न देकर बोले, "नरेन्द्र, तुम्हारी आकृति में योगियों के सारे लक्षण विद्यमान हैं। यदि तुम नियमित रूप से ध्यान का अभ्यास करो तो सहज ही सिद्धि के अधिकारी बन जाओगे।" पर नरेन्द्र तो अपने प्रश्न का 'हाँ' या 'न' में उत्तर चाहता था। उसका समाधान नहीं हुआ। वह निराश लौट आया। घर आकर सोचने लगा, 'महर्षि जैसे तपस्वी को भी यदि ईश्वर-दर्शन नहीं हुआ तो फिर और किससे पूछूँ ? कहाँ जाऊँ ? क्या करूँ ? ईश्वर, धर्म—यह सब कल्पना की उपज तथा ढकोसला ही तो नहीं है ?'

उसने धर्म-दर्शन-सम्बन्धी अपनी पुस्तकों को एक ओर रख दिया। पुस्तक-ज्ञान की व्यर्थता उसे स्पष्ट दिखायी दी। इन सबको पढ़कर यदि चित्त को शान्ति नहीं मिलती, ईश्वर-प्राप्ति में सहायता नहीं मिलती तो फिर इनसे लाभ ही क्या ? रात-भर उसे ठीक से नींद नहीं आयी। वह परमहंस रामकृष्ण के बारे में सोचता रहा। हृदय के किसी अज्ञात कोने से उसे आवाज आयी कि उन्हीं के पास चलना चाहिए। और भोर होते ही वह दक्षिणेश्वर में श्री रामकृष्ण देव के पास जा पहुँचा। परमहंस भक्त-मण्डली से घिरे बैठे थे। नरेन्द्र भी वहीं जाकर बैठ गया। उसका हृदय व्याकुल था। तरह-तरह की भाव-तरंगें उसमें उठ रही थीं। वह सोच रहा था कि यदि इन्होंने भी मेरे प्रश्न का समाधानकारक उत्तर नहीं दिया तो फिर क्या होगा ? यही सोच-विचार करते-करते अन्त में उसने अपना महाप्रश्न पूछ ही लिया, "महाराज ! क्या आपने ईश्वर के दर्शन किये हैं ?"

मन्द स्मित से परमहंस का मुख-मण्डल अपूर्व तेज से भास्वर हो उठा। उन्होंने शान्त दृढ़ भाव से स्नेहपूर्वक कहा, "वत्स, मैंने ईश्वर के दर्शन किये हैं। जैसे इस समय मैं तुम्हें देख रहा हूँ, वैसे ही, इससे भी अधिक निकटता और स्पष्टता के साथ मैंने उन्हें देखा है।" उनके उत्तर में तनिक भी दुविधा नहीं थी। संशय और संकोच का लेश भी न था। फिर नरेन्द्र से पूछा, "वत्स, क्या तुम भी ईश्वर-दर्शन करना चाहते हो ? अगर तुम मेरे कथना-

नुसार कार्य करो, तो तुम्हें भी दिखा सकता हूँ। बताओ, करोगे ?"

श्री रामकृष्ण परमहंस की वाणी सुनकर नरेन्द्र का हृदय आनन्दोल्लास से भर गया। वही अन्तिम वाक्य को सुनकर फिर संकल्प-विकल्प से भर उठा। 'तो इस 'पागल' पुजारी के आदेश और उपदेश का पालन करना पड़ेगा। इसे आदर्श बनाना पड़ेगा। इसी जैसी कठोर साधना करनी होगी। बिना तर्क-वितर्क के अपनी उँगली इसके हाथ में पकड़ानी होगी।' इस तरह की अनेक बातें सोचते-सोचते वह किसी निश्चय पर नहीं पहुँच सका। वह यह नहीं कह सका कि 'जैसे आप कहेंगे, वैसे ही करूँगा।'

इस घटना के कुछ दिनों बाद उसने ब्राह्मसमाज से अपना सम्बन्ध तोड़-सा लिया। पर मन के ऊहापोह में वह कई दिनों तक दक्षिणेश्वर भी नहीं गया।

उधर श्री परमहंस नरेन्द्रनाथ को देखने के लिए व्याकुल हो उठे। एक रविवार के दिन उन्होंने सोचा, यदि ब्राह्मसमाज में जाऊँ तो नरेन्द्र वहाँ अवश्य मिलेगा। वे सायंकाल ब्राह्मसमाज की उपासना में सम्मिलित हुए। समाज के आचार्य उस समय व्याख्यान दे रहे थे। ईश्वर-गुणानुवाद के प्रसंग से भाव-विभोर परमहंस आचार्य के आसन के पास पहुँच गये। अनुमान से नरेन्द्र ने उनके आने का कारण जान लिया और उनके पास गये। परन्तु नरेन्द्रनाथ को यह देखकर बहुत ठेस लगी कि सभागृह के अन्य ब्राह्म सज्जनों ने न तो उन्हें आसन दिया और न उनके साथ बोले ही। शिष्टाचार के साधारण नियमों का भी उन्होंने निर्वाह नहीं किया। यही नहीं, कुछ लोगों में तो उनके प्रति स्पष्ट अनादरभाव भी दृष्टिगोचर होता था। इसी बीच परमहंस समाधिमग्न हो गये। उपस्थित लोग उन्हें देखने के लिए उठ खड़े हुए और आगे बढ़ने लगे। इससे सभा में कुछ गड़बड़ी मच गयी। इस गड़बड़ी को देखकर व्यवस्थापकों ने बत्तियाँ बुझा दीं। नरेन्द्रनाथ परमहंस को पिछले द्वार से कठिनाईपूर्वक बाहर निकाल पाये और उन्हें दक्षिणेश्वर पहुँचाने की व्यवस्था की। ब्राह्मों के इस आचरण से नरेन्द्रनाथ को भारी ठेस पहुँची और परमहंस के इस अनादर और वहाँ तक आने का निमित्त कारण अपने को मानकर उसे और भी खेद हुआ। इसके बाद नरेन्द्रनाथ

फिर कभी ब्राह्मसमाज में नहीं गये।

यद्यपि नरेन्द्र ने परमहंस को अपना आदर्श और गुरु स्वीकार नहीं किया था, तथापि वह भीतर-ही-भीतर उनके प्रति दिनों-दिन श्रद्धावान् होता जा रहा था। पूर्ण आत्मसमर्पण उसने नहीं किया था। उसका पौरुष-युक्त अहंभाव भक्त का दैन्यभाव अपनाने में एक सीमा तक बाधक था। नरेन्द्र के प्रति परमहंस की व्याकुलता और परमहंस के प्रति नरेन्द्र का एक दूरी बनाए रखने का भाव अन्य श्रद्धालुओं की समझ में नहीं आता था। उन्हें नरेन्द्र का तर्क-वितर्क, अपने विचार का प्रस्थापन और आलोचनावृत्ति पसन्द नहीं थी। नरेन्द्र को भक्तों का भाव-विह्वल होकर आँसू बहाना, दैन्यभाव का प्रदर्शन, अपने को तुच्छ-नगण्य मानना अनुचित लगता था। वह भगवद्-आराधन को भी आत्मगौरव के साथ करने का पक्षपाती था। यही बातें दूसरों को खलती थीं। पर परमहंस नरेन्द्र के सरल-स्पष्ट कथन, सत्यवादिता और निर्भीक आचरण के महत्त्व को समझते थे।

एक दिन बातचीत के प्रसंग में श्री रामकृष्ण कहने लगे, "यदि तू मेरी बात नहीं सुनता तो फिर यहाँ क्यों आता है?" नरेन्द्र ने तत्काल उत्तर दिया, "आपको चाहता हूँ, इसलिए चला आता हूँ। बात सुनने के लिए नहीं।"

नरेन्द्रनाथ ने अपने प्रति परमहंस की ममता को देखकर एक दिन कहा, "राजभरत को हरिण के प्रति अत्यन्त ममत्व होने का कारण, दूसरे जन्म में हरिण की योनि प्राप्त हुई थी। आपकी मेरे प्रति जो ममता है, उसका भी वैसा ही फल होगा।" इस पर श्री रामकृष्ण देव बोले, "सच तो है रे, तो फिर क्या होगा भला? मैं तो तुझे देखे बिना नहीं रह सकता।" और तभी परमहंस काली माँ की मूर्ति के पास दौड़े गए। थोड़ी ही देर बाद लौट आए और कहने लगे, "मैं तेरी बात नहीं सुनूँगा। माँ ने कहा है कि तू उसमें (नरेन्द्र में) नारायण को देखता है इसीलिए तेरी ममता है। जिस दिन उसमें नारायण नहीं देखेगा, उस दिन उसका मुँह भी नहीं देखेगा।"

एक दिन संध्या समय, जबकि भक्त-मण्डली ज्ञान-चर्चा से विरत हुई थी, श्री रामकृष्ण देव ने एकाएक उठकर अपना दाहिना चरण नरेन्द्र के

कन्धे पर रखा। चरण रखते ही नरेन्द्र एक विचित्र भावभूमि में पहुँच गया। उसे ऐसी अनुभूति हुई मानो सकल सृष्टि का किसी अनन्त सत्ता में तिरोभाव हो रहा है। पर नरेन्द्र का 'मैं' तब भी रहा। जब उसे लगा कि 'मैं' भी विलीन होने लगा है तो उसके मुँह से चीख निकल गई—"यह आप क्या कर रहे हैं? मुझे क्या हो रहा है? मेरी माँ, मेरे पिता···"

श्री रामकृष्ण ने पैर हटा लिया और उसकी छाती पर हाथ रखा। इससे नरेन्द्र तत्काल स्वाभाविक स्थिति में आ गया। उसने देखा, परमहंस उसके सामने खड़े मन्द-मन्द हँस रहे हैं। इस घटना से नरेन्द्र के 'अहं' का महल भूमिसात् हो गया। उसे अपनी दृढ़ता का जो मान था, वह जाता रहा, माता-पिता के मोह ने उसे योगियों के परमानन्द का भोक्ता बनने से रोक दिया।

पर नरेन्द्र के शंकालु मन ने हार नहीं मानी। वह सोचने लगा, निश्चय ही यह पुजारी पागल तो है नहीं। फिर क्या है? इसने सम्मोहन (हिप्नाटिज्म) से तो मेरा भावान्तर नहीं किया था? इस तरह की शंकाओं में फिर उसने मन-ही-मन निश्चय किया कि भविष्य में ऐसा अवसर नहीं दूँगा कि सम्मोहन-विद्या के द्वारा मेरे मन पर यह काबू पा सके।

नरेन्द्र की बी० ए० की पढ़ाई चल रही थी। इसके साथ ही वह अपने पिता की इच्छानुसार सुप्रसिद्ध अटर्नी श्री निमाई चरण के पास अटर्नी की शिक्षा भी ले रहा था। इन्हीं दिनों श्री विश्वनाथ पुत्र के विवाह-सम्बन्ध के लिए भी प्रयत्न करने लगे। वे यह तो जानते थे कि नरेन्द्र दक्षिणेश्वर में परमहंस के पास आता-जाता है। यद्यपि इसमें उन्होंने कोई बाधा उपस्थित भी नहीं की, तथापि यह उनके लिये कोई प्रसन्नता का विषय नहीं था। नरेन्द्र जिस अलग मकान में रहता था, परमहंस यदाकदा वहाँ भी आते थे और ध्यान-उपासना के सम्बन्ध में कुछ बताते रहते थे।

बी० ए० की परीक्षा में नरेन्द्र ने घोर परिश्रम किया था। अब परीक्षा समाप्त हो गई थी इसलिए वह कुछ हल्कापन अनुभव कर रहा था। मित्रों के साथ गपशप भी होती रहती थी। इसी तरह एक दिन नरेन्द्र बराहनगर में अपने किसी मित्र के घर गया हुआ था कि एक आदमी ने अकस्मात् हृदय-

गति रुक जाने के कारण उनके पिता के देहान्त का समाचार सुनाया। यह घोर समाचार सुनते ही नरेन्द्र की आँखों के सामने अंधकार छा गया। वह किसी तरह घर पहुँचा। माँ और भाई-बहन पिता की देह को घेरकर रो रहे थे। नरेन्द्र इस हृदयद्रावक दृश्य को देखकर फूट-फूटकर रोने लगा।

श्री विश्वनाथ दत्त का नाम गिने-चुने वकीलों में लिया जाता था। उनकी आय भी खूब थी। पर मुक्तहस्त होकर खर्च करने और अनेक स्वजनों का भरण-पोषण करने के कारण बचता कुछ नहीं था। नरेन्द्र की माता के सामने परिवार के भरण-पोषण का प्रश्न भयावह रूप में आ उपस्थित हुआ। नरेन्द्र भाइयों में सबसे बड़ा था। एक प्रकार से परिवार के भरण-पोषण का उत्तरदायित्व उस पर आ पड़ा था। पर सांसारिक मामलों में रुचि न लेने और इससे पूर्व इस सबकी कभी आवश्यकता न पड़ने के कारण, वह अनुभवहीन था। कुछ ही दिनों में लाड़-प्यार से पले भाई-बहनों को दो जून भोजन भी न मिल पाने के आघात से नरेन्द्र भौंचक रह गया। वह किंकर्तव्यविमूढ़ था। चारों ओर घना अंधेरा छाया हुआ था। कुछ भी सूझ नहीं रहा था।

विश्वनाथ के परिवार पर इस घोर विपत्ति के समय, उनके सुख के दिनों के मित्र कन्नी काटने लगे। नरेन्द्र सारी परिस्थिति को बारीकी से देख रहा था। अपने घर के अभाव को उसने अपने मित्रों से प्रकट नहीं किया। वह कोई काम तलाश करने लगा, जिससे कुछ आय हो सके, ताकि परिवार को दो रोटियाँ मिल सकें। इसके साथ ही उसकी कानून की पढ़ाई भी चल रही थी।

काम खोजते-खोजते तीन-चार मास बीत गए, पर कोई सफलता नहीं मिली। घर के अभाव और कष्ट भी दिनों-दिन बढ़ते गए। जब दो जून भोजन के भी लाले पड़ गए तो नरेन्द्र ने एक चाल चली। वह माँ से कह देता कि मुझे अमुक मित्र ने भोजन के लिए निमन्त्रित किया है। इस तरह प्रायः एक जून उपवास करके रह जाता। पेट-भर भोजन न मिलने से शरीर दुर्बल होने लगा। कभी-कभी तो भूख और दुर्बलता के कारण चक्कर भी आ जाते। मित्रों से उसकी यह स्थिति छिपी न रही। कुछ ने मदद करनी

चाही, पर आत्माभिमानी नरेन्द्र को यह कब सह्य था। मित्रों ने उसे भोजन के लिए निमन्त्रित करना शुरू किया। नरेन्द्र ने उनकी बात को भाँपकर निमन्त्रण को कोई बहाना बनाकर अस्वीकार करना शुरू कर दिया। किसी मित्र के घर भोजन के लिए बैठते ही भाई-बहनों के भूखे चेहरे उसकी आँखों के सामने आ जाते। तब एक कौर निगलना भी उसके लिए कठिन हो जाता।

नौकरी की खोज में भूखे पेट, नंगे पाँव नरेन्द्र दिन-भर सड़कों पर घूमता रहता और शाम को निराश, थका-हारा घर लौट आता। इन दुर्दिनों में एक नई विपत्ति और आ गई। उन्हीं के कुल के एक व्यक्ति ने मकान से निकाल बाहर करने के लिए उन पर मुकद्दमा कर दिया। नरेन्द्र के पिता के एक मित्र ने जो प्रसिद्ध वकील थे, इसकी पैरवी करने का उत्तरदायित्व लिया। मुकद्दमे का फैसला नरेन्द्र के पक्ष में हुआ।

इसी तरह दिन बीतने लगे। नरेन्द्र को कोई काम नहीं मिला। घर की स्थिति और भी बिगड़ती गई। नरेन्द्र ने सोचा, क्यों न अपनी विपत्ति की बात परमहंस से जाकर बताऊँ। सम्भव है, उनके आशीर्वाद से यह संकट टल जाए। यही सोचकर वह दक्षिणेश्वर चला गया। नरेन्द्र के आने से परमहंस बहुत प्रसन्न थे। नरेन्द्र ने अपनी मनोव्यथा परमहंस को कह सुनाई और उनके अनुग्रह की याचना की। सारी बात सुनकर परमहंस गंभीर हो उठे। उनकी गम्भीर मुद्रा को देखकर नरेन्द्र ने कहा, "महाराज, मेरी माँ और भाई-बहनों को दो रोटियाँ खाने को मिल जाएँ, इसके लिए माँ काली से अनुरोध कर दीजिए।" श्री रामकृष्ण ने कहा, "अरे, मैं तो कभी माँ से कुछ माँगता नहीं। पर तुम्हारे लिए एक बार माँ से अनुरोध किया था। पर तू तो माँ को कुछ मानता ही नहीं। इसीलिए माँ तेरी बात पर कुछ ध्यान नहीं देती।"

नरेन्द्रनाथ तो निराकार का उपासक था। मूर्ति-पूजा में उसकी तनिक भी तो श्रद्धा नहीं थी। नरेन्द्रनाथ सिर झुकाए बैठा रहा। रामकृष्ण देव कहने लगे, "माँ की कृपा के बिना कुछ नहीं होगा।" नरेन्द्र फिर चुप। उन्होंने फिर कहा, "अच्छा, आज मंगलवार है। मैं कहता हूँ, आज काली

मन्दिर में जाकर, माँ को प्रणाम करके तू जो कुछ माँगेगा, माँ तुझे वही देगी।"

नरेन्द्र को परमहंस और काली माँ दोनों की परीक्षा लेने का सुन्दर अवसर मिल गया। प्रस्तर की काली माँ की प्रतिमा की ओर इस 'पागल' पुजारी की सच्चाई प्रत्यक्ष हो जाएगी।

सन्ध्या की पावन वेला घिर आई। मन्दिर में आरती-पूजा की तैयारी होने लगी। परमहंस बरामदे में टहलते हुए नामकीर्तन करने लगे।

एक पहर रात बीतने पर नरेन्द्रनाथ मन्दिर में गया। आज परिवार के दुःखों का अन्त होगा, इस कल्पना से उसे सुखानुभूति हुई। वह प्रतिमा के समक्ष जा उपस्थित हुआ। सामने वराभयहस्त फैलाकर भक्तार्तिनाशिनी माँ की स्मित-हासिनी प्रतिमा सजीव-सी दिखाई दे रही थी। नरेन्द्र पहली बात भूलकर जगन्माता के सामने प्रार्थना कर बैठे, "माँ, विवेक दो, वैराग्य दो, ज्ञान और भक्ति दो। माता, तुम्हारी कृपा से सदा तुम्हें देख सकूँ।"

नरेन्द्र मन्दिर से बाहर आया। परमहंस पूछने लगे, "क्या माँगा?" तब नरेन्द्र को याद आई कि मैं तो कुछ और ही माँगने गया था। श्री रामकृष्ण देव ने कहा, "एक बार फिर जाओ।" वह फिर गया। पर यह क्या! वह भी सांसारिक वस्तु माँ से न माँग सका। वही भक्ति, ज्ञान और वैराग्य माँगकर लौट आया। तीसरी बार फिर गया, तब भी वही हुआ। बचपन से ही वैराग्य में प्रवृत्ति वाला नरेन्द्र सांसारिक कष्टों से विचलित अवश्य हुआ था, पर देवता से सांसारिक सुख-कामना की प्रार्थना न कर सका। भला ऐसा कौन मूर्ख होगा जो कल्पवृक्ष से अमृत न माँगकर किसी और सामान्य वस्तु की कामना करे!

रामकृष्ण देव ने नरेन्द्र को समझाते हुए कहा, "तू सोचकर गया और फिर भी माँग न सका। इससे तो यही लगता है कि सांसारिक सुख तेरे भाग्य में है ही नहीं। फिर तुम्हारे परिवार को अन्न-वस्त्र की कमी नहीं होगी।"

उनके वचनों से सन्तुष्टमन नरेन्द्र घर लौट आया।

उस दिन से नरेन्द्रनाथ के जीवन में नये अध्याय का प्रारम्भ हुआ। यह

अध्याय बड़ा रहस्यपूर्ण है।

नरेन्द्र के परिवार का अभाव बहुत हद तक मिट गया। अटर्नी कार्यालय में काम करके तथा कुछ अनुवाद-कार्य करके नरेन्द्र घर का खर्च चलाने लगा। अन्त में उसे ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के स्कूल में अध्यापन-कार्य मिल गया।

१८८३-८४ ई० के बीच कलकत्ता के विचारशील लोगों ने रामकृष्ण परमहंस के महत्त्व को भली प्रकार पहचान लिया। भक्त-मण्डलियाँ दक्षिणेश्वर में उनका सत्संग करने और उपदेश सुनने आने लगीं। १८८५ ई० के मध्य में श्री रामकृष्ण देव के गले में रोग हो गया और धीरे-धीरे बढ़ने लगा। इससे भक्तों की चिन्ता बढ़ चली। उन्हें चिकित्सा के लिए कलकत्ता लाया गया। इस महानगर में रहने के लिए खुले स्थान की बड़ी असुविधा थी। काशीपुर में एक वाटिकायुक्त मकान की व्यवस्था भक्तों ने उनके लिए कर दी। उनकी सेवा और देखभाल का कार्य भक्तों ने सँभाला। इधर गुरुदेव की सेवा-सुश्रूषा के लिए अगस्त मास में नरेन्द्रनाथ ने अध्यापन-कार्य छोड़ दिया और काशीपुर में परमहंस के पास रहने लगा।

दवा-दारू और सेवा-टहल में कोई कमी नहीं थी, पर रोग था कि घटने के बजाय बढ़ता जाता था। कई भक्त आशंकित थे कि गुरुदेव अपनी लीला का संवरण कर रहे हैं।

श्री रामकृष्ण देव नरेन्द्रनाथ से अपनी टहल-सेवा नहीं करवाते थे। क्यों नहीं करवाते थे, यह तो वे ही जानें। गुरु-सेवा के अधिकार से वंचित नरेन्द्र व्यवस्था-संचालन में अपना योग देता था।

काशीपुर का वह वाटिकायुक्त भवन भक्तों से भरा रहने लगा। दक्षिणेश्वर जैसा ही भजन-कीर्तन, शास्त्र-चर्चा और परमार्थ-कार्य यहाँ भी होने लगे। नरेन्द्र का मन ध्यान-उपासना में विशेष प्रवृत्त होने लगा। वह कभी-कभी रात को दक्षिणेश्वर चला जाता और ध्यानमग्न रहता। शिष्यों को भगवद्भजन में प्रवृत्त देख रामकृष्ण परम आनन्दित होते।

एक दिन नरेन्द्र को एकान्त में बुलाकर वे बोले, "योग-साधना से मुझे अष्टसिद्धियाँ मिली थीं, पर मैंने उनका कभी कोई उपयोग नहीं किया।

उन्हें तू ले ले। भविष्य में तेरे बहुत काम आएँगी।"

नरेन्द्र ने पूछा, "महाराज, क्या उनसे भगवद्प्राप्ति में कोई सहायता मिलेगी?"

परमहंस बोले, "नहीं, सो तो नहीं होगा; परन्तु कोई भी सांसारिक इच्छा अपूर्ण न रहेगी।"

तनिक भी दुविधा में पड़े बिना नरेन्द्रनाथ ने उत्तर दिया, "महाराज, तब तो वे मुझे नहीं चाहिये।"

० ० ०

कामिनी-काँचन से विरत तरुण युवकों का एक दल परमहंस के सान्निध्य और उपदेश से उच्च आध्यात्मिक जीवन की साधना में लगा हुआ था। इनमें से अनेक संन्यास की दीक्षा लेने के लिए आतुर थे। परमहंस ने इन्हें दीक्षित करने का निश्चय किया। एक शुभ दिन में संन्यस्त होने वाले शिष्यों के हाथ में गेरुआ वस्त्र देकर परमहंस ने पूछा, "क्या तुम लोग निरभिमानी बनकर भिक्षाटन कर सकोगे?" इस प्रश्न के उत्तरस्वरूप सभी संन्यासकामी शिष्य कन्धे पर झोली डालकर भिक्षा माँगने के लिए निकल पड़े। भिक्षा में जो कुछ मिला उसे गुरुदेव के सामने समर्पित कर दिया। इसी भिक्षा से प्रसादरूप जो कुछ उन्हें मिला, उसे यज्ञशेष के रूप में ग्रहण किया। कुलगौरव, शिक्षाभिमान और अहंभाव से रहित इन युवकों के बीच परमहंस परम आनन्दित हुए। विधिपूर्वक शिष्यों की दीक्षा सम्पन्न हुई।

संन्यास-दीक्षा के पश्चात् महात्माओं के पावन चरित का अध्ययन-मनन नरेन्द्रनाथ की दिनचर्या का अंग बन गया। वह अपने साथी संन्यासियों के साथ भगवान् बुद्ध के त्यागमय जीवन की चर्चा करते-करते थकते नहीं। उनके अपूर्व त्याग का वर्णन करते-करते नरेन्द्र का गला रुक जाता और आँखें आँसुओं से छलछला उठतीं। भगवान् बुद्ध के ऐतिहासिक स्थलों की यात्रा करने की उत्कट इच्छा नरेन्द्रनाथ के मन में जाग्रत् हुई। दो गुरुभाइयों को लेकर उन्होंने बुद्धगया जाने का निश्चय किया। इसकी सूचना किसी को दिए बिना ही वे चल दिये। यह घटना अप्रैल, १८८६ की है।

प्रातःकाल नरेन्द्र और दो अन्य साधकों को न पाकर सभी चिन्तित

हो उठे। आसपास खोज की गई, पर कुछ पता न चला। भक्तों ने उनके गुप्त रूप से चले जाने की सूचना जब परमहंस को दी तो वे मुस्कराकर बोले, "चिन्ता क्यों करते हो, वह शीघ्र ही लौट आएगा। वह क्या इस स्थान को छोड़कर कहीं दूसरी जगह ठहर सकता है?"

बुद्धगया में उन्होंने बोधिसत्त्व के दर्शन किये। इसी स्थान पर भगवान् बुद्ध ने निर्वाणपद प्राप्त किया था। बोधिवृक्ष के नीचे बैठकर नरेन्द्रनाथ ने ध्यानोपासना की। तीन दिन वे वहीं रहे और ध्यान-समाधि में मग्न रहे। इसके बाद फिर काशीपुर वाले मकान में लौट आये।

एक दिन इसी मकान में प्रदीप्त यज्ञाग्नि के सामने बैठे हुए ध्यानस्थ नरेन्द्र ने किसी विचित्र शक्ति का अनुभव किया। उसे ऐसा लगा कि स्पर्श-मात्र से किसी दूसरे व्यक्ति में भाव-परिवर्तन कर सकता है। परमहंस को उसने ऐसा करते देखा था और स्वयं उसके साथ भी परमहंस ऐसा कर चुके थे। कुतूहल और जिज्ञासा के कारण नरेन्द्र ने पास बैठे गुरुभाई पर यह प्रयोग किया। इस उपासक का भाव-परिवर्तन हो गया और आध्यात्मिक जीवन की उच्च भूमिका में इसने प्रवेश किया। इस घटना का पता जब श्री रामकृष्ण देव को लगा तो उन्होंने नरेन्द्र को बुलाकर उसकी खूब ताड़ना की। उन्होंने डाँटते हुए कहा, "शक्ति संचय न करके अभी से उसे खर्चने लगा।" नरेन्द्र ने चुपचाप सुन लिया और भविष्य में वैसा न करने का निश्चय किया।

पाश्चात्य दर्शन से प्रभावित यह नवबुद्ध युवक धीरे-धीरे अपनी अविनय जैसी दिखनेवाली तर्कनाशक्ति, अहमिका और पल्लवग्राही पांडित्य को भूलकर ज्ञान की उच्चतर भूमिकाओं में प्रवेश करने लगा। उसके स्वाध्याय में उपनिषद्, गीता तथा वेदान्त के अन्य ग्रन्थ सम्मिलित हो गए। गुरुदेव के प्रति उनकी श्रद्धा दिनोंदिन बढ़ती गई। यम-नियम के पालन में कठोरता आई। ध्यानोपासना में अधिक समय लगने लगा। पर नरेन्द्र के भीतर जो एक महापिपासा थी, अन्तिम सत्य पा लेने की जो विकलता थी, वह शान्त नहीं हुई। जिसे जानकर कुछ जानना शेष नहीं रहता, उसका ज्ञान नहीं हुआ।

उन्हीं दिनों एक रात को काशीपुर के उस मकान में परमहंस रोग-शय्या पर पड़े हुए थे। चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। नरेन्द्र गुरुदेव के पास खड़ा हुआ था। कमरे में तीसरा कोई नहीं था। नरेन्द्रनाथ इस विचार के साथ आया था कि गुरुदेव से आग्रह करेगा कि वे उसे निर्विकल्प समाधि में पहुँचा दें। पर न जाने क्यों, उससे यह कहते नहीं बन रहा था। पर श्री रामकृष्ण देव समझ गए थे कि वह कुछ कहना चाहता है। उन्होंने स्वयं पूछा, "बोलो, क्या कहना चाहते हो ?"

तब नरेन्द्र ने कहा, "शुकदेव की तरह निर्विकल्प समाधि के द्वारा सदैव सच्चिदानन्द-सागर में डूबे रहना चाहता हूँ।"

सुनकर परमहंस कुछ क्षुब्ध हुए। फिर ताड़ने के भाव से बोले, "बार-बार यही कहते तुझे लज्जा नहीं आती ! समय पर कहाँ तो तू महावृक्ष की तरह सैकड़ों लोगों को शान्ति की छाया देगा और कहाँ आज तू अपनी ही मुक्ति के लिए व्यग्र हो उठा है ! इतना छोटा आदर्श है तेरा !"

नरेन्द्र के बड़े-बड़े नेत्रों में आँसू भर आए। वह कुछ दृढ़ता से बोला, "निर्विकल्प समाधि के बिना मेरा मन किसी भी तरह शान्त न होगा और अशान्त मन के साथ मैं वह सब-कुछ भी नहीं कर सकूँगा।"

इस पर परमहंस कुछ बिगड़कर बोले, "अरे, तू क्या अपनी इच्छा से करेगा ! जगन्माता तेरी गर्दन पकड़कर करवा लेगी। तू न करे, तेरी हड्डियाँ करेंगी।"

नरेन्द्र ने सिर झुकाकर सब-कुछ सुना, पर वहाँ से गया नहीं जैसे अब भी उसका समाधान न हुआ हो। अन्त में रामकृष्ण देव ने कहा, "अच्छा जा, निर्विकल्प समाधि लगेगी।"

एक दिन सन्ध्या-समय ध्यानमग्न नरेन्द्रनाथ असंभावित रूप से निर्विकल्प समाधि में लीन हो गया। सारा बाह्य नाम-रूपात्मक प्रपंच मानो महाशून्य में विलीन हो गया। देशकालातीत शुद्धात्मा अपनी साम्यावस्था में स्थित हो गया।

काफ़ी देर बाद समाधि टूटी। नरेन्द्र ने अनुभव किया कि कामना-शून्य होने पर भी, उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई बलपूर्वक स्थूल जगत् में

खींचकर ला रहा है। जैसे वह स्थूल जगत् ही उसका कार्यक्षेत्र हो।

आज नरेन्द्र के अन्तस् की सारी अशान्ति, असंतुष्टि दूर हुई। आशाओं-आकांक्षाओं का अन्त हो गया। उसका मुखमण्डल एक अपूर्व आभा से भास्वर हो उठा। हृदय की सारी गाँठें खुल गईं, सारे संशय मिट गये। ब्रह्मानन्द से पूर्णकाम यह युवा संन्यासी श्री गुरुदेव के चरणों में प्रणत हुआ। श्री रामकृष्ण देव ने हँसते हुए कहा, "तेरा हठ पूरा हुआ। अब ताला बन्द किये देता हूँ। कुँजी मेरे पास रहेगी। जब तेरा कार्य समाप्त हो जायेगा तो द्वार फिर खुल जायेगा।"

उस दिन भजन-गायन में नरेन्द्र ने विशेष रुचि ली और अनेक भक्ति के पदों का गायन किया। सभी गुरुभाई भी विशेष रूप से प्रसन्न थे, पर परमहंस की चिन्ता कुछ बढ़ गई थी। वे जगन्माता के पास कातर होकर प्रार्थना करने लगे, "माँ, उसकी अद्वैत की अनुभूति को तू अपनी माया से ढक ही रख। माँ, मुझे तो अभी उससे कई काम करवाने हैं।"

श्री परमहंस कहा करते थे, "सोने में मिलावट के बिना उससे गहना नहीं बनता।" उनका आशय था कि लोकोपकारक कार्य करने के लिए जितने भी महापुरुष कार्य-क्षेत्र में आए हैं, उन सबमें उदात्त अहं किञ्चित्-मात्रा में विद्यमान था। उनके अहं का पूर्ण तिरोभाव नहीं हुआ था।

१८८६ ई० का जुलाई मास समाप्त होने को आया। श्री रामकृष्ण देव के गले के रोग ने भयंकर रूप धारण कर लिया। बात करने में भी कठिनाई होने लगी। बहुत धीरे से वे एकाध बात कह पाते। थोड़ा-सा पतला दलिया उनका आहार था। नरेन्द्रनाथ को वे कहते कि अपने इन गुरुभाइयों की रक्षा का भार अब तेरे ही ऊपर है। उनकी शिष्य-मण्डली का नेता नरेन्द्रनाथ ही था। नरेन्द्र पर उनका विशेष अनुग्रह भी था। वे अपने शीघ्र देह-त्याग करने की बात भी नरेन्द्र को बता चुके थे।

भक्तों और शिष्यों के दिन बड़ी चिन्ता में बीत रहे थे। सभी को लगता था कि गुरुदेव का शरीर अब अधिक दिन टिकने वाला नहीं है। एक दिन नरेन्द्रनाथ को बुलाकर वे कहने लगे, "वत्स, आज तुझे अपना सर्वस्व देकर मैं अकिंचन बन गया।" नरेन्द्रनाथ ने समझा कि गुरुदेव

की यह लीला समाप्त होने वाली है। वह फूट-फूटकर रोने लगा। यत्न करने पर भी गुरुदेव से भावी विछोह की कल्पना से उत्पन्न अपनी वेदना को वह छिपा न सका और रोते-रोते कमरे से बाहर चला गया।

श्री रामकृष्ण देव के देहावसान से दो दिन पूर्व की बात है। नरेन्द्र के मन में एक शंका उत्पन्न हुई। परमहंस के कुछ एकनिष्ठ भक्त उन्हें साक्षात् ईश्वर मानते थे। पर नरेन्द्रनाथ को इसमें सन्देह था। वह सोचता, क्या यह सत्य है? वह इस समस्या का समाधान गुरुदेव के जीवनकाल में कर लेना चाहता था। परमहंस के लिए तो सभी कुछ ज्ञानगम्य था। नरेन्द्र के मन का यह भाव भी उनसे कैसे छिपा रहता! उन्होंने आँखें खोलकर नरेन्द्र की ओर देखकर कहा, "नरेन्द्र, अभी तक तुझे विश्वास नहीं हुआ। राम और कृष्ण की एकीभूत समाप्ति ही राम-कृष्ण है, तेरे वेदान्त की दृष्टि से नहीं, साक्षात्।"

सुनते ही नरेन्द्र एकदम चौंक पड़ा। उसके विस्मय का पारावार नहीं था। उसके मन के भाव को अन्तःप्रज्ञा से जानकर, अपनी इहलीला समाप्त करने से पूर्व अन्तिम शंका का भी समाधान कर दिया।

अन्त में श्री रामकृष्ण परमहंस की महासमाधि—लीला-संवरण का दिन भी आ पहुँचा। रविवार, १५ अगस्त, १८८६ ई०। भक्त और शिष्य उनकी शय्या को घेरे अन्तिम क्षण आया जान व्यथित-व्याकुल थे। दिन बीता, रात आई। घनीभूत हो रहे अन्धकार की भाँति भक्तों और शिष्यों के मन-मस्तिष्क भी अवसाद की गहनता से भर गये थे। यह कालरात्रि बड़ी दुःखदायिनी थी। श्री रामकृष्ण देव का रोग-जर्जर शरीर सिरहाने के सहारे टिका काँप रहा था। पंजरबद्ध पक्षी पंख फैलाकर चिराकाश में उड़ने के लिए आतुर था। उनके सौम्य मुखमण्डल पर मन्द स्मित की एक क्षीण रेखा फैली हुई थी। दृष्टि नासिकाग्र पर स्थिर थी। उन्होंने तीन बार 'माँ काली' का नामोच्चार किया। घटाकाश चिदाकाश में समा गया। पंच-भौतिक देह को घेरे भक्त-शिष्य शोकाकुल थे। उसमें से अमृत, अव्यय, अक्षर पुरुष प्रयाण कर गया। महायोगी महासमाधि में लीन था।

परिव्राजक विवेकानन्द

परमहंस रामकृष्ण के देहावसान के कुछ ही समय बाद काशीपुर का बगीचे वाला मकान छोड़ना पड़ा। अब समस्या थी कि परमहंस के तरुण संन्यासी शिष्य कहाँ जाकर रहें। नरेन्द्रनाथ के मन में यह विचार आया कि यदि हम सब बिखर गए तो गुरुदेव के आदर्श का प्रचार-कार्य ठप्प हो जाएगा। किसी केन्द्र, किसी धुरी के बिना कुछ बनेगा नहीं। परमहंस के कुछ गृहस्थ भक्तों ने भी नरेन्द्र के इस विचार का समर्थन किया।

गुरुभक्त सुरेन्द्रनाथ मित्र ने बराहनगर में एक मकान किराये पर दिला दिया। तरुण संन्यासी शिष्य परमहंस के देहावशिष्ट भस्म और अस्थि से पूर्ण ताँबे की कलशी को शिरोधार्य कर काशीपुर से बराहनगर चले गये।

तरुण संन्यासी गुरुभाइयों में नरेन्द्रनाथ एक प्रकार से ज्येष्ठ और श्रेष्ठ थे। अपने साथियों का नेतृत्व उन्होंने सँभाला। स्वीकृत आदर्श के प्रति निष्ठा बनी रहे, त्याग का संकल्प दृढ़ रहे और लक्ष्य की प्राप्ति हो सके, इसके संघबद्ध होने की आवश्यकता को नरेन्द्रनाथ बड़ी तीव्रता से अनुभव कर रहे थे। नरेन्द्रनाथ गुरुभाइयों के उत्साह को निरन्तर बनाए रखने में संलग्न थे। पर परमहंस के कुछ गृहस्थ शिष्य तरुण संन्यासियों को गृहस्थाश्रम में लौट आने का परामर्श देने लगे। कुछ तरुण परीक्षा की तैयारी के लिए, घरवालों के अनुरोध से घर लौटने लगे। नरेन्द्रनाथ के घर की व्यवस्था अभी तक सन्तोषजनक नहीं थी। इसलिए उन्हें घर-परिवार को भी कुछ समय देना पड़ता था। मकान के सम्बन्ध में जो झगड़ा कचहरी में शुरू हुआ था, वह भी समाप्त नहीं हुआ था। इन कारणों से नरेन्द्र रात्रि को भी मठ में नहीं ठहर पाते थे। परमहंस के गृहस्थ भक्त तरुण संन्यासियों को नरेन्द्रनाथ का उदाहरण देकर घर लौटने के लिए

प्रेरित करते थे। नरेन्द्रनाथ भी पूरी शक्ति से ऐसे लोगों का प्रतिवाद नहीं कर पाते थे, क्योंकि वे स्वयं अभी तक पूर्ण संन्यासी जीवन को नहीं अपना पाए थे।

इसी संक्रमणकाल में एक नया झमेला उठ खड़ा हुआ। रामचन्द्र दत्त आदि परमहंस के कुछ गृहस्थ भक्तों ने संन्यासी शिष्यों से प्रस्ताव किया कि आप सब लोग संन्यासी ठहरे। आपका कोई एक ठिकाना नहीं है। आज यहाँ तो कल वहाँ, इस स्थिति में परमहंस के देहावशेष को कहाँ उठाते-घुमाते फिरोगे। इन्हें हम लोगों को सौंप दो। हम मन्दिर बनवाकर उसमें इनकी स्थापना करेंगे। इससे वे अवशेष सुरक्षित रहेंगे। पर तरुण संन्यासियों ने इस प्रस्ताव को स्वीकार करने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। इसको लेकर गृहस्थ और संन्यासी भक्तों में विवाद बढ़ चला। शशि और निरंजन दो तरुण उस ताम्रपात्र के रक्षक थे। उधर गृहस्थ-भक्त राम बाबू उसे पाने के लिए दल-बल के साथ प्रयत्न करने लगे।

परमहंस में श्रद्धा रखने वाले गृहस्थ भक्तों और तरुण संन्यासियों के बीच का यह अशोभन विवाद नरेन्द्र को बहुत अखरा। उन्हें लगा कि यह विवाद हमारे भीतर-बाहर दीवार खड़ी कर देगा। उन्होंने अपने सभी गुरुभाइयों को एकत्र किया और कहा, "अनेक महापुरुषों के देहावशेष को लेकर शिष्यों में विवाद होता आया है। धर्मजगत् में यह कोई नया विवाद नहीं है। पर पहले विवाद होता आया है, इसलिए हम भी विवाद करेंगे, यह स्वस्थ विचार-परम्परा नहीं है। हम संन्यासी हैं। गुरुदेव के सान्निध्य में रहकर हमने जो कुछ सीखा है उस पर आचरण करना ही हमारा प्रमुख कर्तव्य है, वही हमारी सम्पत्ति है। रामकृष्ण परमहंस के शिष्यों में उनके देहावशेष को लेकर झगड़ा हुआ था, इस तरह की घटना की स्मृति छोड़ जाना बहुत ही अशोभन कार्य है। अतः स्थूल अवशेष उन्हीं के पास रहें। हमारे पास जो उनकी भावसम्पदा है, शिक्षा और उपदेश हैं, उसी के प्रचार और प्रसार में हमारे जीवन की चरितार्थता है।"

शशि और निरंजन किसी ने भी इसका प्रतिवाद नहीं किया।

अवशेषों का स्वल्प भाग रखकर शेष को पात्रसहित लौटाने में वे सहृ-

मत हो गए। इस निश्चय को कार्यरूप में परिणत करने के लिए एक शुभ दिन में गृहस्थ एवं संन्यासी भक्तों ने सम्मिलित होकर श्री राम बाबू के कंकुड़ गाछी के बगीचे वाले भवन में पवित्र ताम्रपात्र को स्थापित कर दिया। इस प्रकार नरेन्द्रनाथ की दूरदर्शिता के कारण गुरुभाइयों के बीच मनोमालिन्य के विषबीज का अंकुर फूटते ही उखाड़ फेंका गया।

इस झमेले के शांत होने पर नरेन्द्रनाथ ने चैन की साँस ली। यद्यपि नरेन्द्रनाथ घर की शोचनीय दशा के कारण पूर्ण रूप से संन्यस्त जीवन का आचरण नहीं कर पा रहे थे, फिर भी उनका अधिकांश समय बराहनगर मठ में व्यतीत होता था। कुछ तरुण गुरुभाई अभिभावकों के दबाव और परीक्षा देने के लिए तैयारी आदि के निमित्त घर लौट गए थे। नरेन्द्र उन सबसे बराबर सम्पर्क बनाए रखते थे। उनके घर जाकर उनसे मिलते, उन्हें दोबारा बराहनगर मठ में लौट आने के लिए प्रेरित करते, पर उन तरुणों के अभिभावकों को नरेन्द्र का आना-जाना अच्छा नहीं लगता था। नरेन्द्रनाथ को आने से रोकने के लिए उन्होंने जो उपाय किये, वे सभी असफल सिद्ध हुए।

नरेन्द्र के उत्साह और प्रेरणा से अनेक तरुण युवक पुनः मठ में लौटने लगे। नरेन्द्रनाथ बड़ी तत्परता से घर की व्यवस्था की चिन्ता से मुक्त होने का यत्न करने लगे। मकान-सम्बन्धी मुकद्दमे की अपील का निर्णय भी उनके पक्ष में हो चुका था। दिसम्बर माह के प्रारम्भ में नरेन्द्रनाथ ने घर-परिवार से अपने सम्बन्ध पूरी तरह तोड़ लिए और बराहनगर रहने लगे। श्री बलराम बसु, गिरीशचन्द्र घोष, महेन्द्रनाथ गुप्ता (श्री रामकृष्ण-वचनामृत के लेखक) और सुरेन्द्रनाथ मित्र जी-जान से तरुण संन्यासियों को सहायता देने लगे और सत्कार्यों के लिए प्रेरित करने लगे।

तरुण संन्यासीगण तितिक्षापूर्वक परमहंस के पावन चरित्र, उनकी शिक्षाओं और उपदेशों का चिन्तन-मनन करते हुए वेद, दर्शन, उपनिषद्, पुराण आदि का स्वाध्याय करने लगे। ध्यानोपासना में निरत रहने लगे। श्री गुरुदेव के वियोग-दुःख को दूर करने का यही उपाय उन्हें श्रेष्ठ लगा। हमारे चरित्रनायक नरेन्द्रनाथ बिना किसी घोषणा के ही परमहंस के

वरिष्ठ उत्तराधिकारी बन गए। सभी गुरुभाई आशा, विश्वास और सम्बल के रूप में उन्हें देखते थे।

वराहनगर मठ में कुछ दिन बिताने के बाद संन्यासियों के मन में तीर्थ-भ्रमण की इच्छा जाग्रत् हुई। इनमें से कुछ ने सोचा कि सम्भवत: मठ छोड़कर जाने की अनुमति न मिले, इसलिए इसकी सूचना नरेन्द्रनाथ को दिये बिना ही चला जाए। इसी कार्यक्रम के अनुसार वे चले भी गये। एक दिन किसी आवश्यक कार्य से नरेन्द्रनाथ को कलकत्ता जाना पड़ा। जब वे लौटकर आये तो पता चला कि किशोरवय सारदाप्रसन्न (स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी) गुप्त रूप से मठ से चले गये हैं। इस बालक की सांसारिक अनुभवहीनता और अल्पवय का विचार कर नरेन्द्रनाथ चिन्तित हो उठे। उन्होंने राखाल को बुलाकर कहा, "तुमने भला उसे क्यों जाने दिया!" और क्षणभर के मौन के बाद फिर कहने लगे, "मैं कैसी विचित्र स्थिति में पड़ गया हूँ। अपना घर-बार छोड़कर तो यहाँ आया और यहाँ आकर मोह का एक नया घर-बार बना बैठा। इस लड़के के लिए मन बहुत बेचैन है।"

इसी समय मठ के एक व्यक्ति ने एक पत्र उनके हाथ में थमा दिया। यह पत्र सारदाप्रसन्न जाते समय लिखकर छोड़ गये थे। लिखा था, "मैं पैदल श्री वृन्दावन जा रहा हूँ। मठ में मेरा रह पाना असम्भव-सा है। चंचल मन का कुछ भरोसा नहीं। मैं स्वप्न में अपने घर-द्वार, माता-पिता और स्वजनों को प्राय: देखा करता हूँ। संसार का मायाजाल टूट नहीं पा रहा है। इस बीच मैं दो बार घर भी हो आया हूँ। अत: मेरा घर के पास यहाँ रहना किसी भी प्रकार उचित नहीं है। इसीलिए स्वजनों से दूर, बहुत दूर चला जा रहा हूँ।"

पत्र पढ़कर नरेन्द्रनाथजी का चेहरा गम्भीर हो उठा। तभी राखाल ने कहा, "अब सारदा के मठ छोड़ने की बात समझ में आई।" नरेन्द्रनाथ मन में सोच रहे थे कि अकेले सारदा की ही बात नहीं, और सभी भी तो तीर्थ-भ्रमण के लिए जाना चाहते हैं। फिर मठ का क्या होगा? ठीक है, जो होना हो, सो हो। मैं कौन हूँ जो सभी मेरी आज्ञा मानें और मेरे अनु-

शासन में रहें। इस रूप में जो माया का यह बन्धन है, इसे भी तोड़ना होगा। सारदाप्रसन्न के पत्र ने उन्हें गहरी चिन्ता में डाल दिया। सोचने लगे, 'यहाँ एकसाथ रहकर हम सभी धीरे-धीरे माया के बन्धन में बँधते जा रहे हैं।' अतः उन्होंने भी मठ छोड़कर अन्यत्र जाने का संकल्प किया। अपने गुरुभाइयों के अनुरोध और अनुनय की उपेक्षा करके, दैवी इच्छा से प्रेरित नरेन्द्रनाथ परिव्राजक के वेश में मठ छोड़कर निकल पड़े। नरेन्द्र-नाथ अब कॉलेज का छात्र नहीं रहा था। उसका भाव-परिवर्तन होकर 'स्वामी विवेकानन्द' में रूपान्तर हो गया था।

स्वामी विवेकानन्द जहाँ कहीं भी जाते, जनता उनकी ओर आकृष्ट हो जाती। बिहार तथा उत्तरप्रदेश के विभिन्न स्थानों में भ्रमण करके हिन्दुओं के ज्ञानधाम और मोक्षधाम, पावन तीर्थस्थल काशीधाम पहुँचे।

काशीधाम में वे द्वारकादास के आश्रम में रहते थे। भिक्षान्न भोजन, देव-स्थानों का दर्शन, शास्त्रचर्चा एवं ध्यानोपासना ही उनकी दिनचर्या थी। काशी के विख्यात साधु श्रीमत त्रैलिंग स्वामीजी के दर्शन प्राप्त कर स्वामीजी धन्य हुए। अपने गुरुदेव से इनके त्याग और तप के बारे में वे कई बार सुन चुके थे।

कुछ दिन काशीधाम रहकर स्वामीजी बराहनगर मठ में लौट आए। कुछ दिन बराह मठ में बिताने के बाद काशी का आकर्षण फिर खींचने लगा। वे फिर काशीधाम पहुँचे। वहाँ परमहंस के एक शिष्य श्री अखण्डा-नन्दजी ने स्वामीजी का परिचय प्रमदादास मित्र से करा दिया। श्री प्रमदादास संस्कृत भाषा और साहित्य तथा वेदांत दर्शन के धुरंधर पण्डित थे। पहली भेंट में ही इन विद्वान् के प्रति स्वामीजी के मन में श्रद्धा हो गई। बाद के वर्षों में भी शास्त्र-व्याख्या में स्वामीजी को कहीं कुछ संदेह होता तो इन्हें पत्र लिखकर उसका स्पष्टीकरण करवा लेते।

अब की स्वामीजी ने अपनी तीर्थयात्रा का श्रीगणेश काशी से ही किया। सन् १८८८ के अगस्त मास में दण्ड-कमण्डल लेकर ये संन्यासी उत्तरभारत के अनेक पावन तीर्थों का भ्रमण करते हुए सरयू नदी के तट पर अवस्थित भगवान् राम की जन्मभूमि अयोध्या पहुँचे। यहाँ सत्संग-

भजन में कुछ दिन बिताकर पदाति लखनऊ और आगरा होते हुए श्री वृन्दा-वनधाम पहुँचे। यहाँ कालाबाबू के कुंज में अतिथि रूप में रहने लगे। वे मथुरा-वृन्दावन के निकटवर्ती अनेक छोटे-मोटे तीर्थों का भ्रमण करने लगे। राधाकुण्ड में आकर स्वामीजी को एक अपूर्व अनुभव हुआ।

एक दिन स्वामीजी ने अपने शरीर के एकमात्र वस्त्र कौपीन को धोकर किनारे पर सूखने डाल दिया और स्वयं राधाकुण्ड में उतर पड़े। जब स्नान कर चुके तो देखा कि कौपीन तो गायब है। उन्होंने इधर-उधर देखा। किनारे के एक वृक्ष पर एक बन्दर उस कौपीन को लिये बैठा था। उन्होंने बन्दर से कौपीन वापस लेने के अनेक यत्न किये, पर सब निष्फल। नग्ना-वस्था में कैसे जल से बाहर निकलें कहाँ जाएँ, क्या करें, कुछ समझ नहीं आ रहा था। अन्त में जल से निकलकर कुण्ड के निकटवर्ती घने जंगल में जा घुसे। दौड़ते-दौड़ते उन्होंने मन में निश्चय किया कि जब तक पहनने को लंगोट नहीं मिलेगा, तब तक निराहार इसी जंगल में रहूँगा। थोड़ी देर भागने के बाद उन्हें पीछे से किसी के पुकारने की आवाज सुनाई दी। घूमकर देखा तो पीछे कोई दौड़ता चला आ रहा था। पर वे रुके नहीं, पहले ही की तरह भागते रहे। थोड़ी ही देर में उसने स्वामीजी को आ पकड़ा। उसके हाथ में कुछ भोजन-सामग्री और गेरुआ वस्त्र देखकर स्वामीजी चकित रह गये। उसने आग्रहपूर्वक ये चीजें स्वामीजी को दे दीं और स्वयं घने जंगल में कहीं अदृश्य हो गया। वस्त्र पहनकर फिर स्वामी जी राधाकुण्ड लौट आये। देखते क्या हैं कि उनका कौपीन, जहाँ उन्होंने उसे सूखने डाला था, वहीं विद्यमान है। इस घटना से उनका विस्मयभाव और भी बढ़ गया, और भगवन्नाम का स्मरण करते हुए वे भाव-विभोर हो उठे।

दण्डी संन्यासी की पदयात्रा जारी रही। एक दिन अरुणोदय से पूर्व ही थकान के कारण मार्ग के किनारे एक वृक्ष के नीचे सुस्ताने बैठ गये। सम्भवतः बहुत रात रहे ही उन्होंने अपनी यात्रा प्रारम्भ कर दी थी। यह घटना हाथरस के पास की है। हाथरस रेलवे स्टेशन के स्टेशनमास्टर श्री शरच्चन्द्र गुप्त अपनी रात की ड्यूटी समाप्त करके घर लौट रहे थे। वे

स्वामीजी के तेजस्वी मुखमण्डल को देखकर मुग्ध हो गये। संन्यासी के चरणों मे शीश झुकाने के बाद श्री शरच्चन्द्र गुप्तजी ने प्रार्थना की कि आप भूखे और थके हुए दिखाई दे रहे हैं। कृपा करके मेरे घर चलें और वहीं विश्राम करें। स्वामीजी शरद् बाबू के साथ उनके घर चले गये।

धर्मनिष्ठ लोगों का ऐसा विश्वास है कि योग्य साधकों का जब मन्त्र-दीक्षा लेने का समय आ जाता है तो उन्हें गुरु की खोज के लिए कहीं जाना नहीं पड़ता। स्वयं गुरु ही उन्हें दीक्षित करने के लिए चले आते हैं।

भोजन और विश्राम के बाद शरद् बाबू ने कहा, "महाराज, बहुत दिनों से आत्मज्ञान प्राप्त करने की इच्छा मन में है, पर कोई योग्य गुरु नहीं मिला। आज जब स्वयं आपने दर्शन देकर कृतार्थ किया है तो आत्म-ज्ञान का उपदेश भी दीजिये।"

इस श्रद्धालु की बातें सुनकर स्वामीजी ने उत्तरस्वरूप कुछ भी नहीं कहा। वे एक भजन गुनगुनाने लगे, जिसका आशय कुछ इस प्रकार का था कि यदि तुम प्रेम प्राप्त करना चाहते हो तो अपने मुँह पर भभूत मलकर आ जाओ। कहो, ऐसा कर सकोगे ?

स्वामीजी के भजन गुनगुनाने का आशय समझकर शरद् बाबू बोले, "मैं आपका क्रीतदास हूँ। जो कुछ आप आज्ञा करेंगे, वैसा ही करूँगा।"

एक दिन स्वामीजी को गम्भीर चिन्ता में मग्न देखकर शरद् बाबू ने पूछा, "स्वामीजी, आज आप उदास क्यों हैं ?" शीतल निःश्वास छोड़ते हुए स्वामीजी ने उत्तर दिया, "बस, एक महान् कार्य को सम्पन्न करने का उत्तरदायित्व मुझे सौंपा गया है; परन्तु देखता हूँ कि इस गुरुतर कार्य को सम्पादन करने के लिए मेरी शक्ति पर्याप्त नहीं है। मैं कृतकार्य होऊँगा, ऐसा नहीं लगता। बस, इस निराशा से उत्पन्न चिन्ता ही मुझे खाए जा रही है। जितने दिन बीतते जा रहे हैं, उतना ही स्पष्टतर होता जा रहा है कि मेरे गुरुदेव रामकृष्ण परमहंस का अभीष्ट कार्य सनातन धर्म के लुप्त गौरव को फिर से प्राप्त करना ही था। धर्म का घोर ह्रास और भारत-सन्तानों को अन्न-वस्त्र का अभाव ! कैसी विकट परिस्थिति है ! इन्हें धर्म की शक्ति से सम्पन्न बनाना है। मानवमात्र तक धर्म का सन्देश पहुँचाना

है। पर अभी तक कुछ भी नहीं कर सका।"

स्वामीजी की मनोवेदना से अभिभूत होकर शरद् बाबू ने कहा, "क्या मैं आपके किसी काम नहीं आ सकता?"

स्वामीजी गम्भीरतापूर्वक बोले, "इस महान् कार्य के लिए सर्वत्याग कर सकोगे? भिक्षापात्र को अपना सम्बल बना सकोगे? क्या तुम संन्यासी की कठोर जीवनचर्या को अपना सकोगे?"

दृढ़तापूर्वक शरद् बाबू ने उत्तर दिया, "अवश्य, आपकी कृपा होगी तो अवश्य कर सकूँगा।"

इस प्रकार कुछ दिन शरद् परिवार के साथ रहकर उन्होंने हाथरस छोड़ने का निश्चय किया। शरद् बाबू को बुलाकर एक दिन उन्होंने कहा, "वत्स, संन्यासी के लिए एक स्थान पर अधिक दिन टिकना ठीक नहीं। इसलिए शीघ्र ही इस स्थान को छोड़कर जाना श्रेयस्कर होगा।"

शरद् बाबू बोले, "महाराज, मुझे आप अपना शिष्य बनाकर साथ ले चलिये।"

स्वामीजी ने उत्तर दिया, "क्या तुम सोचते हो कि मेरा शिष्य-भर हो जाने से तुम्हारी आध्यात्मिक पिपासा शान्त हो जाएगी? गुरु बनने की योग्यता कितनों में होती है। तुम तो भगवदर्पण कर सत्कर्म करते रहो। इसी से तुम्हारा कल्याण होगा। मैं अभी बद्रीधाम की यात्रा पर जा रहा हूँ। तुम प्रसन्नचित्त से मुझे विदा करो। मैं फिर तुम्हारे पास आने का प्रयत्न करूँगा।"

पर शरच्चन्द्र भी मानने वाले नहीं थे। वे फिर आग्रहपूर्वक बोले, "आप चाहे कुछ भी कहें, आप जहाँ भी जाएँगे, मैं आपके पीछे चलूँगा। आपको मुझे दीक्षा देनी ही होगी।"

कुछ देर सोचकर स्वामीजी बोले, "क्या सचमुच तुम मेरे साथ चलने को तैयार हो?" शरच्चन्द्र ने दुविधाहीन उत्तर दिया, "हाँ।" स्वामीजी उठ खड़े हुए और बोले, "ठीक है, यह लो मेरी भिक्षा की झोली और अपने ही स्टेशन के कुलियों से भिक्षा माँगकर लाओ।"

शरच्चन्द्र उसी समय निःसंकोच कन्धे पर झोली डालकर निकल पड़े।

उन्हें भिक्षा माँगकर लौटते देख स्वामीजी आनन्दित हो उठे। स्वामीजी ने उन्हें आशीर्वाद दिया।

श्री शरच्चन्द्र माता-पिता से आज्ञा लेकर स्वामीजी के साथ हो लिये। वे यात्रा करते-करते हृषिकेश आ पहुँचे।

दीक्षा के अनन्तर शरच्चन्द्र का नाम सदानन्द हो गया। वे संन्यासी के कठिन व्रतों-नियमों का पालन करने में तत्पर हो गये। शारीरिक श्रम का अभ्यास न होने के कारण कठोर साधना से सदानन्द शीघ्र ही अस्वस्थ हो गये। इस विवशता के कारण स्वामीजी नवदीक्षित शिष्य को साथ लेकर वापस हाथरस लौट आये। हाथरस पहुँचने पर स्वामीजी स्वयं भी अस्वस्थ हो गये। कुछ दिनों की चिकित्सा और विश्राम के बाद स्वस्थ होकर फिर वराहनगर मठ को लौट गये। कुछ समय बाद सदानन्दजी भी स्वस्थ होकर हाथरस से वराहनगर मठ में आ गये और रामकृष्ण संघ में सम्मिलित हो गये।

वराहनगर मठ में स्वामीजी के लौट आने से नये उत्साह का वातावरण बना और विविध क्षेत्रों में क्रियाशीलता दिखाई देने लगी। स्वामी विवेकानन्दजी की सादी विचार-बुद्धि संन्यास और कोटि-कोटि भारत-सन्तानों के दुःख-दारिद्र्य को दूर करने के दो परस्पर-विपरीत-से दीखने वाले कार्यों के बीच समन्वय स्थापित करने के यत्न में लगी हुई थी। उन्हें एकमात्र अपनी मुक्ति के लिए उद्योग करना घोर स्वार्थ दिखाई देता था, जबकि करोड़ों बन्धु घोर दुःख झेल रहे थे। भारत की जनता की धर्म-निष्ठा को उन्होंने अपने भ्रमणकाल में स्पष्ट देखा था। उनका यह भी स्पष्ट मत था कि धर्म का व्यवसाय करने वाले पण्डे-पुरोहितों का धर्म के ह्रास में बड़ा हाथ है। वे धर्म में से ढोंग को निकाल बाहर करना चाहते थे।

हाथरस से लौटकर वे साल-भर यहाँ रहे और इस बीच गुरुभाइयों के साथ अध्ययन-मनन और शास्त्र-चर्चा में भाग लेते रहे।

१८८९ के फरवरी मास में स्वामीजी अपने गुरुदेव की जन्मभूमि कामार पुकुर तथा गुरुमाता की जन्मभूमि जयराम बाटी गये थे और शिमुलतला में रहकर जुलाई मास में लौट आये थे। यहाँ आकर वे वेदान्त

और उपनिषदों के गम्भीर अध्ययन में लग गये। जहाँ भी कोई शंका होती, काशी के श्री प्रमदादासजी को पत्र लिखकर उसका निवारण करवा लेते। शंकराचार्य के भाष्य उनके अध्ययन की विशिष्ट सामग्री थी।

दिसम्बर मास में स्वामीजी वैद्यनाथधाम गये। वहाँ से काशी जाने की उनकी इच्छा थी। पर उन्हें अपने एक गुरुभाई योगानन्दजी की बीमारी के कारण प्रयागधाम में रुकना पड़ा। बाद में काशी होकर २२ जनवरी, १८९० को गाजीपुर पहुँचे। यहाँ वे एक प्रसिद्ध योगी पवहारी बाबा के दर्शनों के लिए आये थे। पवहारी बाबा के दर्शन और उपदेश से स्वामी विवेकानन्द मुग्ध हुए। बाबाजी की उन पर अहैतु की कृपा से उनकी श्रद्धा और भी बढ़ गयी। धीरे-धीरे दोनों में घनिष्ठता बढ़ने लगी। जब दोनों महात्मा निरन्तर आध्यात्मिक तत्त्वों की चर्चा में लगे होते तो उनके अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों के पल्ले कुछ न पड़ता। जिन सूक्ष्म तत्त्वों और अनुभूतियों की वे चर्चा कर रहे होते, कोरे पुस्तक-पण्डितों के लिए उन्हें समझ सकना सम्भव न था।

पवहारी बाबा के प्रति स्वामीजी की श्रद्धा दिनों-दिन बढ़ती ही गयी। उनकी भक्ति, ज्ञान और वैराग्य की छाप उनके हृदय पर अंकित हो गयी। स्वामी विवेकानन्द सोचने लगे, 'रामकृष्ण परमहंस की मुझ पर अनन्त कृपा थी। उन्होंने मुझे अपने हाथों गढ़ा। फिर भी न जाने क्यों मुझे आत्मिक शान्ति नहीं मिली। हो सकता है, वह शान्ति पवहारी बाबा जैसे ब्रह्मवेत्ता से मिल सके।' इसी विचार के वशीभूत हो उन्होंने पवहारी बाबा से आग्रह-पूर्वक योगशिक्षा के लिए प्रार्थना की। इस तरुण संन्यासी को योगशिक्षा का अधिकारी समझकर बाबाजी ने आग्रह स्वीकार कर लिया।

एक रात्रि को स्वामी विवेकानन्द शिक्षा ग्रहण करने के लिए पवहारी बाबा की गुफा में जाने के लिए तैयार हुए। पर मन में प्रश्न उठा—श्री रामकृष्ण परमहंस या पवहारी बाबा? बस, इस प्रश्न के उठते ही उनका उत्साह शिथिल हो गया। मन में अनेक संकल्प-विकल्प उठने लगे। चिन्तामग्न वे बैठे रहे। देखते क्या हैं कि वह अन्धकारमय कक्ष एकाएक दिव्यालोक से भर उठा है। कर्तव्य-चिन्ता से झुके नेत्रों को जब उठाकर

देखा तो सामने खड़े थे सदेह गुरुदेव श्री रामकृष्ण परमहंस। स्नेह और करुणा से परिपूरित उनके नेत्रों में मातृवत् ताड़न जैसा भाव मिला हुआ था। देखते ही स्वामी विवेकानन्द अवाक् रह गए। इस दिव्य दर्शन के बाद भी घण्टों स्वामी विवेकानन्द उसी आसन पर बैठे रहे। जब प्रभात हुआ तो फिर वही संकल्प-विकल्प का गोरखधन्धा प्रारम्भ हो गया। वे सोचने लगे, 'गुरुदेव का वह दिव्य दर्शन कहीं मस्तिष्क का भ्रम ही तो नहीं था?' उसी ऊहापोह में दूसरी रात को वे फिर बाबाजी की गुफा में जाने के लिए प्रस्तुत हुए तो फिर वही कल वाला दिव्य दर्शन। यह क्रम इक्कीस दिन तक जारी रहा। अन्त में स्वामी विवेकानन्द ने हार मानी और पश्चात्ताप से विगलित होकर प्रार्थना करने लगे, "गुरुदेव! मैं और किसी के पास नहीं जाऊँगा। तुम्हीं मेरे एकमात्र देवता हो। इस दास की मानसिक दुर्बलता से उत्पन्न अपराध को क्षमा करें।"

गाजीपुर में ही उन्हें समाचार मिला कि काशी में स्वामी अभेदानन्दजी अस्वस्थ हैं। वे तुरन्त काशी चले गये और अभेदानन्दजी की चिकित्सा की समुचित व्यवस्था की। तदनन्तर स्वामी प्रेमानन्दजी को उनकी देखभाल के लिए नियुक्त करके स्वयं श्री प्रमदादास के बगीचे वाले मकान में रहने लगे। प्रमदादासजी से शास्त्र-चर्चा और शंका-समाधान करवाने में उनका समय बीतने लगा। इन्हीं दिनों परमहंस के एक गृहस्थ भक्त श्री बलराम बसु के परलोक-गमन का समाचार मिला। इससे स्वामीजी का मन अतीव दुःखित हुआ। शोकाकुल स्वामीजी को देखकर श्री प्रमदादास बोले, "स्वामीजी, आप तो संन्यासी हैं। साधारण मनुष्यों की तरह आपका शोकाकुल होना शोभा नहीं देता।"

इस पर स्वामीजी ने गम्भीर होकर उत्तर दिया, "क्या संन्यासी हृदय-हीन होते हैं? मेरे विचार में तो संन्यासी का हृदय अधिक सहानुभूतिशील होता है। फिर मैं तो जनसाधारण ही हूँ। वे मेरे गुरुभाई थे। एकसाथ श्री रामकृष्ण के चरणों में बैठकर हमने शिक्षा पाई। आज वे नहीं रहे, इस पर मेरे शोकाकुल होने में विचित्र क्या है! पत्थर जैसा अनुभूतिशून्य संन्यासी का जीवन मेरा आदर्श नहीं है।"

श्री बलराम बसु के शोक-संतप्त परिवार को सान्त्वना देने तथा बराहनगर मठ की व्यवस्था देखने के लिए स्वामीजी कलकत्ता वापस आ गये। इन्हीं दिनों २५ मई को मठ के हित-चिन्तक तथा सहायक परमहंस के गृहस्थ शिष्य श्री सुरेशचन्द्र मित्र का भी देहान्त हो गया। इससे जहाँ एक ओर गुरुभाई के वियोग का दुःख हुआ, वहाँ मठ की आर्थिक स्थिति को धक्का लगा। श्री विवेकानन्दजी चिन्तित हो उठे। दो महीने यहाँ रहकर उन्होंने मठ की व्यय-व्यवस्था का समुचित उपाय कर दिया।

अब फिर वे यहाँ से उदास हो उठे। आसेतु-हिमालय निखिल भारत की यात्रा करके अपने विविध देश-धर्म-बन्धुओं से साक्षात्कार करने की प्रबल इच्छा उनके हृदय में उत्पन्न हुई। वे भारतीय जनता का साक्षात्कार कर उसके सुख-दुःख, दैन्य-गौरव, आशा-आकांक्षा को अपनी आँखों देखना, अपने कानों सुनना चाहते थे। वे अनुभव कर रहे थे कि विशाल देश को जाने बिना कोई सार्वदेशिक कार्य-योजना नहीं बनायी जा सकती। दूसरी ओर नवगठित रामकृष्ण संघ के प्रति ममत्व और दायित्व-बोध की पुकार थी। इसकी माँग थी कि वे आश्रम में रहकर भावी महावृक्ष के इस अंकुर को विधिवत सींचें और उसे पाल-पोसकर पुष्ट करें। दो विपरीत ध्रुवों जैसे ये दो मनोभाव उन्हें अपनी-अपनी ओर खींच रहे थे। दुविधा की यह स्थिति शीघ्र ही समाप्त हुई। स्वामीजी ने निश्चय किया कि सभी बन्धनों को छिन्न करना होगा। गुरुभाइयों के निश्छल प्रेम-बन्धन को भी। जो महान् कार्य-भार मेरे ऊपर आ पड़ा है, सब विधि उसे पूरा करने में अपनी शक्ति लगाऊँगा। कृत-कार्य होने के लिए यह जीवन अर्पित है। 'कार्यं वा साधयेयं शरीरं वा पातयेयम्' (या तो कार्य सिद्ध होगा या यह शरीर जायेगा, दो में एक बात होकर रहेगी)।

उन दिनों श्री रामकृष्ण-भक्तों की मातुश्री सारदादेवीजी भागीरथी के पश्चिमी तट पर बुसुड़ी ग्राम में निवास करती थीं। स्वामीजी भारत-भ्रमणार्थ जाने से पूर्व मातुश्री का शुभाशीर्वाद प्राप्त करना चाहते थे। वे उनके पास गये। मातुश्री के पावन चरणों की वन्दना करते हुए उन्होंने निवेदन किया, "माँ, मैं जब तक श्री गुरुदेव के मनोभिलषित कार्य की सिद्धि

नहीं कर लूँगा, तब तक नहीं लौटूँगा। मुझे आशीर्वाद दीजिए कि मेरा संकल्प साकार हो।"

करुणामयी पुत्र-वत्सला माँ ने मंगल वरदहस्त से सिर स्पर्श करके अपने स्वामी परमहंस के नामोच्चारपूर्वक आशीर्वाद दिया। माँ के उस मंगलमय वरदहस्त के स्पर्श से स्वामी विवेकानन्द का हृदय दिव्यभाव से भर उठा। उन्हें अपने भीतर शक्ति का ऐसा अजस्र प्रवाह अनुभव हुआ जो कार्यसिद्धि के पथ की सभी विघ्न-बाधाओं को दूर करने में सक्षम था।

जुलाई, १८९० में उन्होंने मठ से प्रस्थान किया। सर्वप्रथम वे भागलपुर गये। वहाँ के प्रसिद्ध वकील मथुरानाथ सिंह के यहाँ ठहरे। फिर अपने गुरुभाई अखण्डानन्दजी को साथ लेकर देवघर को प्रस्थान किया। वहाँ से फिर काशीधाम पहुँचे। फिर श्री प्रमदादास के निवासस्थान में ठहरे। अब की बार उन्होंने अनुभव किया कि ऋषि-मुनियों के तपःपूत चरित से पवित्र, देवाधिदेव महादेव की तपोभूमि, देवतात्मा हिमालय उन्हें पुकार रहा है। काशी से अयोध्या, नैनीताल होकर वे बद्री-केदार के पथ से अलमोड़ा पहुँचे। यहाँ के प्रसिद्ध व्यवसायी श्री बद्रीसहाय ने अपना बाग वाला सुन्दर मकान दोनों संन्यासियों को रहने के लिए दे दिया। कुछ दिनों बाद अन्य संन्यासी श्री सारदानन्द जी तथा कृपानन्दजी भी उनसे आ मिले। वराह-नगर मठ के अधिकांश संन्यासी इन दिनों तीर्थ-भ्रमण के लिए निकले हुए थे। इनमें से कई हृषिकेश, हरिद्वार आदि स्थानों में कुटीर बनाकर अथवा गिरि-कन्दराओं में रहकर कठिन तापसचर्या का पालन करने लगे।

हिमालय के प्रशान्त वातावरण ने, वहाँ के मुग्धकारी प्राकृतिक सौन्दर्य ने, ऋषि-मुनियों के भक्ति, ज्ञान-वैराग्य के भावों से भावित वहाँ के वायु-मण्डल ने अपना आश्चर्यकारी प्रभाव दिखाया और स्वामी विवेकानन्द की समस्त वृत्तियों को अन्तर्मुखी बना दिया। वहाँ से वे उत्तराखण्ड के अन्य स्थानों की यात्रा को निकले। उनके गुरुभाई भी उनके साथ ही थे।

इन दिनों स्वामी तुरीयानन्दजी कर्णप्रयाग में, अलकनन्दा के तट पर आश्रम बनाकर तपस्या में रत थे। स्वामी विवेकानन्दजी उनसे मिलकर बहुत प्रसन्न हुए। वहाँ से बद्रीनारायण की यात्रा की तैयारी करने लगे।

पर इसी समय स्वामी अखण्डानन्दजी रोगग्रस्त हो गये। अतः उन्हें बाध्य होकर उनकी चिकित्सा के लिए देहरादून लौटना पड़ा। जब अखण्डानन्दजी स्वस्थ हो गये तो स्वामीजी गुरुभाइयों सहित हृषिकेश रहने लगे। हृषिकेश में उनका मन खूब रमा। वहाँ के प्रवास की मनोरम स्मृति अन्त तक उनके हृदय में सुरक्षित रही। यहाँ फिर कठिन तपश्चर्या आरम्भ हो गयी। पर कठिन पहाड़ी मार्गों से श्रान्त देह, पर्याप्त पोषक आहार का अभाव, इस पर कठिन तपस्या का भार सह्य न हुआ। स्वामीजी को तीव्र ज्वर हो गया। साथ ही गले में प्राणघातक डिफ्थीरिया रोग का आक्रमण हुआ। शरीर की दशा दिनों-दिन बिगड़ती गयी।

एक दिन नाड़ी की गति क्रमशः मन्द होती गयी और देह से पसीना छूटने लगा। लगता था कि अन्त समय आ पहुँचा है। सभी गुरुभाई भावी आशंका से खिन्न-उदास थे। सभी किंकर्तव्यविमूढ़ थे। इस कठिन घड़ी में परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं था। सभी संन्यासी अपने गुरुभाई की स्वास्थ्य-कामना के लिए अपने अन्तर्यामी से प्रार्थना करने लगे। संयोगवश उसी समय एक संन्यासी वहाँ आ पहुँचे। संन्यासियों को सिसकते, प्रार्थना करते देख उन्होंने कुटीर में प्रवेश किया। रोग को भली प्रकार जानकर, उन्होंने मृत्यु की आशंका से शोकाकुल संन्यासियों को आश्वस्त किया और रोगी को औषध देकर चले गये। इस औषध के आश्चर्यकारी प्रभाव से स्वामीजी की चेतना लौट आयी। उन्होंने आँखें खोलीं। धीरे-धीरे कुछ बोलने की चेष्टा करने लगे। कुछ स्पष्ट सुनाई न देने के कारण एक संन्यासी अपना कान उनके मुँह के पास ले जाकर सुनने का यत्न करने लगे। विवेकानन्दजी कह रहे थे, "भाई, डरो मत, मैं मरूँगा नहीं।" धीरे-धीरे सचेत होकर स्वामीजी उठ बैठे और बोले, "अचेतनावस्था में मैंने अनुभव किया कि अभी मेरे अनेक कार्य अधूरे पड़े हैं। उनकी समाप्ति के पूर्व देहपात नहीं होगा।"

धीरे-धीरे स्वामीजी स्वस्थ होने लगे। कर्तव्य-चिन्ता निरन्तर उनका पीछा कर रही थी। वह तो वज्राघात की तरह कहीं भी और कभी भी सुखपूर्वक बैठने नहीं देती थी। पुण्यतोया गंगा का अनुकरण करते हुए

स्वामीजी ने भी हिमालय से सेतु-पर्यन्त देशाटन का निश्चय किया।

हृषिकेश से वे मेरठ आ गये। स्वामीजी के मेरठवास की सूचना पाकर इतस्ततः भ्रमण कर रहे उनके गुरुभाई मेरठ में आकर एकत्र हो गये। भजन-कीर्तन, जप-तप, धर्म और शास्त्र की चर्चा, शिक्षा और उपदेश का क्रम यहाँ भी प्रारम्भ हो गया। एक दिन स्वामी विवेकानन्दजी ने अनुभव किया कि जो प्रमुख कर्तव्य है वह तो हो नहीं रहा है। समय यों ही नष्ट हो रहा है। गुरुभाइयों के प्रति स्नेह भी उन्हें बन्धनकारक प्रतीत होने लगा। विचार कर उन्होंने गुरुभाइयों को एकत्र करके कहा, "मैं यहाँ से शीघ्र ही दूसरी जगह जाऊँगा। मेरी इच्छा एकाकी भ्रमण करने की है। अतः मैं चाहता हूँ कि आपमें से कोई भी मेरे साथ न चले। मैं अनुभव कर रहा हूँ कि आपका स्नेह-बन्धन भी कर्तव्य-पथ में विघ्नस्वरूप है।" इस तरह समझा-बुझाकर वे वहाँ से पंजाब की ओर चल दिये।

पंजाब से वे वीरभूमि राजस्थान की ओर बढ़े। सन् १८९१ के फरवरी मास में स्वामीजी अलवर पहुँचे। डाक्टर गुरुचरण महाशय तथा उनके मित्र एक मौलवीजी ने स्वामीजी के ठहरने का प्रबन्ध कर दिया। स्वामी जी का निवासस्थान श्रद्धालु भक्तों की भीड़ के कारण असुविधाजनक प्रतीत होने लगा। पं० शम्भुनाथजी इस असुविधा को दूर करने के लिए उन्हें अपने खुले मकान में ले गये। यहाँ सत्संग-भजन, शास्त्र-चर्चा और शंका-समाधान का क्रम चलने लगा।

इस तरुण संन्यासी की ख्याति चारों ओर फैल रही थी। जो भी एक बार उनके सम्पर्क में आता था, श्रद्धाविभूत हो उठता था। कई लोगों से श्री विवेकानन्दजी का गुणगान सुनकर अलवर राज्य के दीवान महोदय ने उन्हें अपने घर बुलाया। स्वामी जी का सत्संग करके दीवानजी ने अपना अहोभाग्य माना।

दूसरे दिन दीवानजी ने महाराज से इनके बारे में एक पत्र लिखकर चर्चा की। महाराज उस समय अलवर से दो मील दूरी पर एक प्रासाद में ठहरे हुए थे। वे दूसरे दिन अलवर नगर में लौट आये और स्वामीजी के दर्शनार्थ दीवानजी के निवास पर पहुँचे। बातों-ही-बातों में महाराज कहने

लगे, "स्वामीजी महाराज, आप अनेक भाषाओं के विद्वान् हैं। आप चाहें तो अपनी योग्यता से प्रचुर धनोपार्जन कर सकते हैं। फिर भी आपने भिक्षावृत्ति को क्यों स्वीकार किया हुआ है?"

स्वामीजी ने इस प्रश्न का प्रकारान्तर से उत्तर देने का निश्चय किया। उन्होंने महाराज से पूछा, "आप राज-काज की चिन्ता छोड़कर अंग्रेज अधिकारियों के साथ शिकार खेलने के नाम पर अपना समय व्यर्थ क्यों नष्ट करते हैं?"

वहाँ उपस्थित अनेक राज्याधिकारी इस प्रश्न को सुनकर स्तब्ध रह गये। उन्हें आशंका थी कि कहीं महाराज इसे अपना अपमान समझकर कुछ अनुचित न कह या कर बैठें। कुछ क्षण सोचकर महाराज ने उत्तर दिया, "हाँ, करता तो हूँ, पर क्यों करता हूँ, यह नहीं कह सकता। इतना ही कह सकता हूँ कि वह मुझे अच्छा लगता है।"

स्वामीजी ने हँसकर उत्तर दिया, "मैं भी इसीलिए साधु वेश में इधर-उधर घूमता फिरता हूँ कि यह मुझे अच्छा लगता है।" महाराज इस स्पष्ट सम्भाषण से समझ गये कि यह संन्यासी केवल पुस्तक-पण्डित ही नहीं है, संन्यासी के गुण-धर्म भी इसमें विद्यमान हैं। महाराज ने स्वामीजी से दूसरा प्रश्न किया, "देखिये स्वामीजी महाराज, मूर्तिपूजा में मेरा रत्ती-भर भी विश्वास नहीं है। इसके लिए मुझे क्या दण्ड मिलेगा?"

स्वामीजी ने उत्तर दिया, "अपने विश्वास के अनुसार उपासना करने पर परलोक में दण्ड क्यों मिलेगा, मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं है तो न सही।"

वहाँ बैठे अन्य भक्तजन स्वामीजी के इस उत्तर से बड़े असमंजस में पड़े। वे सोचने लगे—स्वयं तो स्वामीजी मूर्तिपूजा करते हैं, भगवान् की प्रतिमा को देखते ही भाव-विभोर होकर अश्रुविमोचन करने लगते हैं, और उसे अनावश्यक भी बता रहे हैं। इतने में स्वामीजी की दृष्टि उस कक्ष में टँगे महाराज की एक फोटो पर पड़ी। स्वामीजी ने उस चित्र को उतरवाया और हाथ में लेकर दीवान साहब से पूछा, "क्या यह महाराज की ही फोटो है?" दीवानजी ने स्वीकृतिसूचक सिर हिला दिया।

स्वामीजी ने दीवान महोदय से कहा, "जरा इस चित्र पर थूक दीजिये।" दीवानजी अवाक् होकर स्वामीजी की ओर देखने लगे। स्वामीजी ने सभी उपस्थित लोगों को सम्बोधित करते हुए कहा, "आपमें से कोई इस पर थूक दीजिये। यह एकमात्र कागज का टुकड़ा ही तो है।" कोई कुछ नहीं बोला, किसी ने नहीं थूका। अन्त में दीवानजी बोले, "स्वामीजी, आप क्या कह रहे हैं! हम महाराज के चित्र पर कैसे थूक सकते हैं!"

"महाराज का चित्र होने से इसमें महाराज का कौन-सा गुण-कर्म-स्वभाव आ गया है। यह तो कागज का टुकड़ा-भर है। इसमें प्राण तो नहीं है। फिर भी इस पर आप सबको थूकने में संकोच क्यों हो रहा है?" फिर हँसते हुए बोले, "मैं जानता हूँ, आप इस पर थूक नहीं सकेंगे, क्योंकि आप लोग समझ रहे हैं कि इस पर थूकने से महाराज के प्रति असम्मान प्रकट होगा। है न यही बात?" अब स्वामीजी ने महाराज को लक्ष्य करके कहा, "देखिये महाराज, एक दृष्टि से विचार करने पर यह कागज का टुकड़ा आप नहीं हैं पर दूसरी दृष्टि से देखा जाये तो इस कागज के टुकड़े पर आपका अस्तित्व है। यही कारण है कि सब लोग आपको तथा आपके चित्र को एक ही मान रहे हैं। ठीक इसी प्रकार पत्थर या धातु की बनी प्रतिमाएँ भी भगवान् की विशेष गुणवाचक मूर्तियाँ हैं। उनके दर्शन से ही भक्त के मन में भगवान् की स्मृति जाग उठती है। भक्त मूर्ति के माध्यम से भगवान् की ही उपासना करते हैं। धातु या पत्थर की पूजा नहीं करते। मैं अनेक मन्दिरों-तीर्थों में गया हूँ, पर आज तक किसी को यह कहते नहीं सुना है कि 'हे पत्थर, हे धातु, मैं तुम्हारी पूजा कर रहा हूँ।' सभी एकमेवअद्वितीय परब्रह्म को अपने-अपने भाव के अनुसार भजते हैं।"

इस समाधानकारक और सोदाहरण वार्ता को सुनकर अलवर-नरेश करबद्ध होकर बोले, "महाराज, आपकी कृपा से आज मुझे मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में एक नया तत्त्वज्ञान प्राप्त हुआ।" महाराज स्वामीजी के अनुग्रह की कामना करते हुए चरण छूकर अपने प्रासाद में चले गये। महाराज ने दीवानजी से कहा कि इन महात्माजी को कुछ दिन अपने यहाँ ही रोक रखिये। इन जैसे ब्रह्मज्ञानी का दर्शन और सत्संग दुर्लभ है। दीवानजी के

विशेष आग्रह से स्वामीजी वहाँ कुछ दिन और ठहरने के लिए मान गए। पर शर्त यह थी कि स्वामीजी के पास जो कोई भी आना चाहे, बिना रोक-टोक के आ सके। दीवानजी ने इसकी समुचित व्यवस्था कर दी।

अलवर में अनेक उत्साही युवक स्वामीजी का शिष्यत्व ग्रहण कर चुके थे। वे शास्त्रों का अध्ययन करने के लिए पहले संस्कृत भाषा को सीखने में लग गये। स्वामीजी ने यहाँ से भी प्रस्थान का कार्यक्रम बनाया। शिष्यगण १८ मील दूर पाण्डपोल तक उन्हें छोड़ने गये। रात वहाँ पर हनुमान मन्दिर में व्यतीत की। प्रातःकाल शिष्य अलवर को लौट गये और स्वामी 'चरैवेति' मन्त्र को मूर्त रूप देते हुए आगे बढ़ चले। उनका अगला लक्ष्य जयपुर था।

स्वामी अखण्डानन्दजी विवेकानन्दजी के विछोह से व्याकुल होकर उनकी खोज में निकले हुए थे। जब वे जयपुर पहुँचे तो पता लगा कि राज-भवन में एक संन्यासी पधारे हुए हैं। वे अनुमान से समझ गये कि विवेकानन्दजी ही होंगे। स्वामी अखण्डानन्दजी ने उनसे साक्षात्कार किया। स्वामी विवेकानन्दजी आनन्दित होने के बदले क्रोधित हो उठे। बोले, "आप मेरा अनुसरण छोड़कर तुरन्त इस स्थान से अन्यत्र चले जाएँ।" इस पर अखण्डानन्दजी जयपुर छोड़कर चले गये।

जयपुर के सभा-पण्डित व्याकरण के धुरन्धर विद्वान् थे। उनसे स्वामीजी ने पाणिनि-रचित अष्टाध्यायी का अध्ययन प्रारम्भ किया। प्रथम सूत्र का भाष्य स्वामीजी तीन दिन में भी नहीं समझ सके। इस पर पण्डितजी ने कहा कि मैं तीन दिन के प्रयत्न से भी आपको एक सूत्र का भाष्य नहीं समझा सका इसलिए आप किसी अन्य योग्य व्यक्ति से शिक्षा ग्रहण करें। इस पर स्वामीजी बहुत लज्जित हुए। उन्होंने निश्चय किया कि जब तक इसे समझ नहीं लूँगा, अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा।

तीन-चार घण्टों के बाद स्वामीजी पण्डितजी के पास लौट आये और सूत्र की व्याख्या सुना दी। फिर तो दो सप्ताहों में ही अष्टाध्यायी सम्बन्धी सभी शंकाओं का समाधान करके स्वामीजी वहाँ से विदा हुए।

जयपुर राज्य के सेनापति सरदार हरिसिंह के साथ स्वामीजी की खूब घनिष्ठता हो गयी। उनके घर स्वामीजी आते-जाते और धर्मोपदेश करते

थे। सेनापति हरिसिंहजी भी मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं रखते थे। एक दिन वे स्वामीजी के साथ राजमार्ग पर जा रहे थे। इसी समय किसी उत्सव के उपलक्ष्य में श्री कृष्णजी का जुलूस निकला हुआ था। एकाएक स्वामीजी ने उन्हें छूकर कहा, "देखिये, भगवान् का सजीव रूप!" सरदारजी का भावान्तर हो गया। वे एकटक मन्त्रमुग्ध-से देखते रहे। जब स्वाभाविक स्थिति में आये तो बोले, "अनेक तर्क-वितर्क करके जिस विषय को समझ नहीं सका था, आज आपकी कृपा से उसका प्रत्यक्ष समाधान हो गया।"

जयपुर से अजमेर आकर स्वामीजी आबू पर्वत की एक गुफा में रहने लगे। एक मुसलमान वकील स्वामीजी को इस स्थिति में देखकर अपने घर ले गये। स्वामीजी के गुणों से परिचित-प्रभावित होकर वकील महोदय ने कोटा राज्य के प्रधानमन्त्री श्री ठाकुर फतेहसिंह तथा अन्य विशिष्ट व्यक्तियों को स्वामीजी का परिचय दिया। एक दिन खेतरी के राजा के सेक्रेटरी श्री जगमोहनलाल स्वामीजी का दर्शन करने आये। उस समय स्वामीजी मात्र कौपीन पहने खटिया पर लेटे विश्राम कर रहे थे। श्री जगमोहनलाल उन्हें इस अवस्था में देखकर सोचने लगे कि 'यह तो कोई ऐसा-वैसा ही साधु है।' इतने में स्वामीजी उठ बैठे। वार्तालाप प्रारम्भ हुआ। श्री जगमोहन कहने लगे, "स्वामीजी, आप हिन्दू संन्यासी होकर भी एक मुसलमान के घर ठहरे हुए हैं। क्या आप मुसलमान का छुआ खा लेते हैं?"

इस पर स्वामीजी ने उत्तर दिया, "मैं संन्यासी हूँ। जो नियम-आचार आप पर लागू होते हैं, वे एक संन्यासी पर लागू नहीं हो सकते। मैं इन सभी आचार-व्यवहारों से परे हूँ। मेरे लिए तो कोई अस्पृश्य नहीं है। यह सब शास्त्रसम्मत है।" थोड़ी देर के वार्तालाप से स्वामी के साधु-चरित की छाप श्री जगमोहन के हृदय पर अंकित हो गयी। उन्होंने अपने राजा साहब को जब स्वामीजी के बारे में बताया तो वे भी इन महात्मा पुरुष के दर्शनों के लिए व्यग्र हो उठे। उन्होंने स्वामीजी को निमन्त्रित किया। श्री जगमोहन जी स्वयं आकर स्वामीजी को ले गये। राजा साहब ने उनका यथोचित सत्कार किया और ज्ञानचर्चा की। स्वामीजी ने राजा साहब की अनेक शंकाओं का निवारण किया। तदनन्तर वे स्वामीजी को अपने साथ खेतरी

में लिवा लाये। राजा महोदय, श्री जगमोहनजी, दोनों ने स्वामीजी का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। राजाजी के आग्रह से स्वामीजी कुछ दिन राज-प्रासाद में ही ठहरे। राजा महोदय के सभा-पण्डित श्री नारायणदास उस समय समस्त राजस्थान में श्रेष्ठ विद्वान् माने जाते थे। इनसे स्वामीजी ने पतंजलि महाभाष्य का अध्ययन प्रारम्भ किया। पण्डितजी की बताई हुई गूढ़ातिगूढ़ व्याख्याओं को स्वामीजी सहज ही आत्मसात् कर लेते थे। स्वामीजी की इस विलक्षण प्रतिभा से विद्वद्वर नारायणदासजी बड़े चमत्कृत हुए।

खेतरी के राजा महोदय के कोई पुत्र नहीं था। एक दिन अपने हृदय की यह गूढ़ पीड़ा उन्होंने स्वामीजी को बताई। उन्होंने यह प्रार्थना की कि यदि स्वामीजी का शुभाशीर्वाद मिल जाये तो यह मनोकामना सहज ही सिद्ध हो सकती है। परदुःखकातर स्वामीजी उनकी दुःख-कथा सुनकर उदास हो उठे। कुछ देर चिन्तामग्न रहे। फिर बोले, "श्री रामकृष्ण महाराज की कृपा से आपकी मनोकामना पूर्ण होगी।"

कुछ दिनों बाद स्वामीजी ने यहाँ से भी विदा ली। वे पैदल मरुभूमि को लाँघते हुए अहमदाबाद, लिवड़ी, जूनागढ़, भुज, भेरावल तथा प्रभास होते हुए सोमनाथ के दर्शनार्थ वहाँ पहुँचे। तदनन्तर पोरबन्दर को प्रस्थान किया।

पोरबन्दर के विख्यात पंडित शंकर पाण्डुरंग से परिचित होकर स्वामी जी भी अध्ययन में प्रवृत्त हुए। पतंजलि महाभाष्य का शेष भाग यहाँ पढ़-कर उन्होंने पूरा किया। इन्हीं दिनों गोवर्धनपीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकरा-चार्य महाराज यहाँ पधारे। उनके शुभागमन के उपलक्ष्य में और उनके सभापतित्व में लिवड़ी राजभवन में स्थानीय पण्डित-मण्डली की सभा का आयोजन हुआ। पण्डित शंकर पाण्डुरंगजी के साथ स्वामीजी भी सभा में सम्मिलित हुए। स्थानीय पण्डित-मण्डली स्वामीजी की विद्वत्ता के बारे में पहले से ही अवगत थी। आज उन्हें परीक्षा लेने का सुअवसर मिल गया। पण्डित-मण्डली उनसे प्रश्न करने लगी। स्वामीजी 'विद्या विवादाय' के पक्षपाती नहीं थे। कोरे पुस्तक-ज्ञान की निःसारता को भी वे भली प्रकार

समझते थे। परन्तु अपने अध्यापक श्री शंकर पाण्डुरंगजी की प्रेरणा से समुपस्थित विद्वानों के प्रश्नों के उत्तर उन्होंने विनय और विद्वत्तापूर्वक दिये। पण्डित-मण्डली उनके पांडित्य से अभिभूत हो गयी। श्रीमत् शंकराचार्य महोदय ने भी उन्हें पास बुलाकर उनका अभिनन्दन किया और आशीर्वाद दिया।

लिबड़ी के महाराज उनका शिष्यत्व ग्रहण कर चुके थे और स्वामी जी को यहाँ अपने ही प्रासाद में ठहराये हुए थे। एक दिन वार्तालाप के बीच श्री शंकर पाण्डुरंग कहने लगे, "स्वामीजी महाराज, मेरे विचार में इस देश में धर्म-प्रचार करके कुछ विशेष नहीं कर पायेंगे। इसका कारण यह है कि आपके उदार और उच्च विचारों को हमारे देशवासी हृदयंगम नहीं कर सकेंगे। अतः आप अपने समय और शक्ति का यहाँ अपव्यय न करके पाश्चात्य देशों में जाइये। वहाँ के लोग सुपठित हैं। वे प्रतिभावानों का समुचित आदर करते हैं। उन्हें सत्य सनातन धर्म का परिचय कराकर आप एक महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकेंगे। इससे धर्म-जगत् में एक युगान्तर उपस्थित हो जाएगा।"

स्वामीजी बड़े ध्यान से उनकी बात सुनते रहे। फिर बोले, "हाँ, एक दिन सूर्योदय के समय समुद्र-तट पर खड़ा मैं सुदूर दिगन्त की ओर देख रहा था। जल-थल तरंगायित था। एकाएक बिजली की तरह मन में विचार कौंध गया कि समुद्र पार मुझे किसी विदेश को जाना होगा। परन्तु पता नहीं यह कब और कैसे सम्भव होगा।"

संयोगवश स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी हिंगुलाज तीर्थ को जाते हुए यहाँ पहुँचे तो उन्हें पता लगा कि लिबड़ी राजमहल में कोई सिद्ध महात्मा ठहरे हुए हैं। जब दर्शनार्थ वे वहाँ आये तो अपने गुरुभाई और नेता को देखकर आश्चर्यमिश्रित आनन्द से गद्गद हो गये।

त्रिगुणातीतानन्दजी तो अपने गन्तव्य की ओर चले गये और विवेकानन्दजी वहाँ से द्वारका, माण्डवी, पालीताना आदि में भ्रमण करते हुए बड़ौदा राज्य में पहुँचे। वहाँ राज्य के दीवान मणिभाई का आतिथ्य ग्रहण किया। यहाँ वे तीन सप्ताह ठहरे। यहाँ के निकटस्थ स्थानों को देखने भी

जाते रहे। बड़ौदा से खण्डवा होते हुए बम्बई पहुँचे। यहां सेठ रामदास छबीलदास का आतिथ्य ग्रहण किया।

सितम्बर, १८९२ की घटना है। बम्बई से पूना जाने वाली रेलगाड़ी में स्वामीजी यात्रा कर रहे थे। इसी डिब्बे में तीन महाराष्ट्रीय युवक भी बैठे हुए थे। वे आपस में इस विषय को लेकर वाद-विवाद कर रहे थे कि संन्यास-ग्रहण उचित है या अनुचित। इन युवकों में से एक रानाडे था। वह विवाद में संन्यास का खण्डन कर रहा था और इसे अकर्मण्य का प्रतीक बता रहा था। एक युवक संन्यास-धर्म के मूल वैराग्य और मानवमात्र की मंगलकामना के उद्देश्य का बखान कर रहा था। यह बालगंगाधर तिलक था। स्वामीजी पहले तो उनके वाद-विवाद को सुनते रहे। फिर बालगंगाधर के पक्ष का समर्थन करने लगे। स्वामीजी ने उन्हें समझाया कि यह संन्यासियों का ही काम था जो उन्होंने देश-देशान्तर में घूम-घूमकर, शीतातप, भूख-प्यास और अन्य अनेक बाधाओं को सहते हुए भारतीय जीवन के उच्च आदर्शों का समस्त भारत में प्रचार-प्रसार किया। यदि कुछ ढोंगी लोगों ने संन्यासी जैसी वेश-भूषा बनाकर कुछ निन्दित कार्य किये हैं तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि संन्यासी मात्र निन्दित है और संन्यास आश्रम गर्हित है। इस संन्यासी की ज्ञान-गरिमा और विषय-प्रतिपादन की क्षमता से लोकमान्य तिलक बड़े प्रभावित हुए। पूना में वे स्वामीजी को अपने घर ले गये। स्वामीजी भी तिलकजी की प्रखर प्रतिभा से प्रभावित हुए बिना न रहे। दो महापुरुषों का विचारसाम्य—भारतीय सनातन धर्म और संस्कृति के प्रति अनन्य निष्ठा, देश और धर्म के उत्थापन का उद्देश्य उन्हें एक-दूसरे का अन्तरंग मित्र बनाने में सहायक था।

पूना के तिलक भवन में कुछ दिन रहकर स्वामीजी ने महाबलेश्वर की ओर प्रस्थान किया। वहां एक दिन राजपथ पर लिबड़ी के ठाकुर साहब अपने गुरुदेव को दीन वेष में देखकर अपने घर ले गये। घर ले जाकर कहने लगे, "आप इस प्रकार निरन्तर भ्रमण करते हुए अपने शरीर को विविध कष्टों में क्यों डाल रहे हैं। मैं अब आपको कहीं नहीं जाने दूंगा। कृपा करके मेरे साथ लिबड़ी में चलिये। वहाँ मैं आपके स्थायी निवास की व्यवस्था

कर दूँगा।"

स्वामीजी ने उत्तर दिया, "ठाकुरजी, एक अदृश्य शक्ति मुझे बल-पूर्वक घुमा रही है। भगवान् रामकृष्ण देव मेरे ऊपर एक महान् कार्य का भार सौंप गये हैं। जब तक वह कार्य सम्पन्न नहीं हो जाता तब तक विश्राम की आशा करना बेकार है। यदि मैं कृतकार्य हुआ और विश्राम का अवसर मिला तो अवश्य ही आपके साथ विश्राम करूँगा।"

यहाँ से फिर निकल पड़े और मार्मागोआ होते हुए बेलगाँव पहुँचकर एक महाराष्ट्रीय सज्जन के अतिथि बने। यहाँ का गुणग्राही समाज स्वामी जी का सत्संग करने के लिए एकत्र होने लगा। यहाँ के एक निवासी श्री हरिपद मित्र भी स्वामीजी की भक्त-मण्डली में थे। एक दिन स्वामीजी ने उनसे शिकागो धर्मसभा में सम्मिलित होने की अपनी इच्छा व्यक्त की। इस यात्रा के मार्ग-व्यय आदि के लिए श्री हरिपद मित्र ने चन्दा एकत्र करने का अपना निश्चय व्यक्त किया तो स्वामीजी ने उन्हें रोक दिया। कुछ दिन बाद यहाँ से भी चल दिये और बंगलौर जा पहुँचे। मैसूर राज्य के दीवान श्री शेषाद्रि महोदय की स्वामीजी से भेंट हुई। वे स्वामीजी के तप-त्याग और पांडित्य से बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने मैसूर के महाराज चामराजेन्द्र वाडियर महोदय को स्वामीजी के सम्बन्ध में बताया। महाराज स्वामीजी से मिलकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने स्वामीजी से प्रार्थना की कि राजभवन में चलकर रहें। स्वामीजी राजभवन में रहने लगे। मैसूर नरेश सरल स्वभाव और उदार प्रकृति के पुरुष थे। यहाँ रहते हुए स्वामीजी अपने निर्भीक और निश्छल स्वभाव के कारण महाराजा के कार्यों में जहाँ कहीं त्रुटि देखते थे, आलोचना करने लगते थे। एक दिन स्वामीजी के आलोचना करने पर बनावटी क्रोध दर्शाते हुए महाराज कहने लगे, "मैं सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हूँ। सभी मुझसे भय मानते हैं और मुझे प्रसन्न रखने के लिए विविध उपाय करते हैं। भविष्य के लिए आप भी सावधान रहें। कहीं आपको राजदण्ड का भागी न बनना पड़े।"

स्वामीजी ने इसे बनावटी क्रोध न समझकर यथार्थ कथन समझा। वे पूरी गम्भीरता के साथ बोले, "महाराज! आपके अनुचित कार्यों व कथनों

का अनुमोदन करने वाले यहाँ अनेक सभासद् राजपुरुष हैं। मैं संन्यासी हूँ। सत्य मेरा मान्य व्रत है, दण्ड के भय से मैं सत्य-पथ से मुँह नहीं मोड़ूँगा। आप हिन्दूधर्मानुयायी होकर भी एक संन्यासी से अनुचित कार्य की आशा करते हैं!"

स्वामीजी के इस धर्म-सम्मत उत्तर को सुनकर मैसूर-नरेश गद्गद हो गये। सच्चे संन्यासी से इसी उत्तर की अपेक्षा हो सकती थी।

एक दिन दीवानजी के सभापतित्व में राजप्रासाद में एक विचार-सभा का आयोजन हुआ। बंगलौर नगर के गण्यमान्य सभी विद्वान् उसमें उपस्थित हुए। वेदान्त पर विचार आरम्भ हुआ। पण्डित-मण्डली वेदान्त की अपनी-अपनी शाखा का मण्डन करने लगी। दूसरे के मत को तर्कहीन और भ्रान्त प्रमाणित करने के लिए सभी वाग्युद्ध में प्रवृत्त हुए। इस वाद से तत्त्वबोध न होकर विवाद का-सा वातावरण बन गया। अन्त में दीवानजी के अनुरोध पर स्वामीजी बोलने के लिए खड़े हुए। स्वामीजी ने स्वानुभाव और शास्त्र-प्रामाण्य से यह सिद्ध करके दिखा दिया कि सर्व-सन्देह-विनाशक वेदान्त के विभिन्न मतवाद परस्पर-विरोधी नहीं, अपितु वे एक-दूसरे के पूरक किंवा समर्थक हैं। वेदान्त शास्त्र कुछ दार्शनिक मतवादों की समष्टि नहीं, यह साधक जीवन की विभिन्न अवस्थाओं—मनोभूमियों—में अनुभूत सत्यों का समूह है। अतः एक की सत्यता प्रमाणित करने के लिए, दूसरे को जो उसका विरोधाभास प्रतीत होता है, मिथ्या प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं है। स्वामीजी की इस समन्वयकारी नवीन व्याख्या को सुनकर और उसे ही सत्य के सबसे समीप जानकर पण्डित-मण्डली प्रशंसा करने लगी।

एक दिन मैसूर-नरेश कहने लगे, "स्वामीजी, मेरी हार्दिक इच्छा है कि आपके लिए कुछ करूँ। आप तो कुछ भी स्वीकार नहीं करते। आपके मनोनुकूल कुछ कर पाता तो अपने को धन्य समझता।"

अब तक भारत-भ्रमण में स्वामीजी ने जो अनुभव किया था, उसके अनुसार देश की वर्तमान शोचनीय दशा का वर्णन करते हुए कहा, "इस समय देश को इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि पश्चिम में विज्ञान की

जो उन्नति हुई है, उसके आधार पर देश की आर्थिक और सामाजिक उन्नति की जाए। उन्नत वैज्ञानिक प्रणाली से कृषि, शिल्प आदि की शिक्षा हम उनसे लें। पर इसके बदले में हमें भी उन्हें कुछ देना चाहिए। हमारे पास देने के लिए कोई भौतिक सम्पदा तो है नहीं। हाँ, हम उन्हें आध्यात्मिक ज्ञान अवश्य दे सकते हैं। यही सोचकर कभी-कभी मेरी इच्छा होती है कि धर्म-प्रचार के लिए पाश्चात्य देशों में जाऊँ। मेरे विचार में यह आदान-प्रदान पूर्व और पश्चिम दोनों के लिए कल्याणकारी होगा। आप साधन-सम्पन्न प्रभावशाली लोग यदि इस कार्य के लिए यत्न करें तो यह शीघ्र ही प्रारम्भ हो सकता है। मेरी हार्दिक इच्छा है कि आप इस महत् पुण्यकार्य में अग्रसर हों।"

महाराज ने सारी बात पर विचार करने के बाद कहा, "स्वामीजी, यदि आप पाश्चात्य देशों में हिन्दू धर्म का प्रचार करने के लिए जाएँ तो सारे व्यय का भार उठाने के लिए मैं प्रस्तुत हूँ।" महाराज यह कहकर उसी समय कई हजार रुपये स्वामीजी को देने लगे। स्वामीजी ने इस समय धन लेने से इन्कार कर दिया। कहने लगे, "अभी तक मैंने अन्तिम निश्चय नहीं किया है। मैंने हिमालय से कन्याकुमारी तक भ्रमण करने का निश्चय किया हुआ था ताकि कोटि-कोटि भारत-सन्तानों का दर्शन कर सकूँ और उन्हें जान-पहचान सकूँ। जब तक मेरा यह संकल्प पूरा नहीं हो जाता, कोई नया संकल्प नहीं करूँगा।"

अन्त में एक दिन स्वामीजी यहाँ से अन्यत्र प्रस्थान करने के लिए तैयारी करने लगे। मैसूर-नरेश ने उन्हें अनेक बहुमूल्य पदार्थ भेंट करने चाहे, पर स्वामीजी ने स्मृतिस्वरूप तथा मान रखने के लिए एक छोटी-सी वस्तु के अतिरिक्त और कुछ भी स्वीकार नहीं किया। स्वामीजी की गठरी में नोटों का एक बण्डल चुपचाप रख देने की दीवानजी ने बहुत चेष्टा की पर सफल नहीं हुए। इस पर दीवानजी को बड़ा खेद हुआ। उनके खिन्न भाव को देखकर स्वामीजी ने कहा, "अगर नहीं ही मानते तो कोचीन तक का एक रेल टिकट ले दो।"

दीवानजी ने टिकट तो ले ही दिया, साथ ही कोचीन राज्य के दीवान

जी को एक पत्र भी लिख दिया। उन्होंने स्वामीजी से यह भी निवेदन किया कि आप पदयात्रा का कष्ट न उठाकर कोचीन से रामेश्वरम् तक गाड़ी से ही यात्रा कीजियेगा। कोचीन राज्य के दीवानजी इसकी व्यवस्था कर देंगे।

स्वामीजी कोचीन की राजनगरी त्रिचूर में कुछ दिन विश्राम करके, त्रावणकोर की राजनगरी त्रिवेन्द्रम में जा पहुँचे। यहाँ महाराज त्रावणकोर के भतीजे के गृहशिक्षक श्री सुन्दरराम अय्यर ने उन्हें अपने घर पर ठहरने के लिए निमन्त्रित किया। उनके द्वारा महाराज त्रावणकोर, उनके दीवान महोदय तथा राजकुमार मार्तण्ड से परिचय प्राप्त किया। यहाँ से मदुरा पहुँचे और रामनद के राजा सेतुपति से परिचय प्राप्त किया। गुणग्राही राजा ने स्वामीजी का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। यहाँ अपने नये शिष्य रामनद के राजा को उन्होंने राज्य में शिक्षा के विस्तार और कृषि की उन्नति के लिए प्रेरित किया। एक वीतराग सन्यासी का इस प्रकार सांसारिक उन्नति के लिए उपदेश करना राजा को अद्भुत लगा।

यहाँ से स्वामीजी सेतुबन्ध रामेश्वरम् गये और भगवान् राम द्वारा संस्थापित रामेश्वरम् के दर्शन कर कृतार्थ हुए। यहाँ से चलकर वे कन्याकुमारी पहुँचे।

देश-दर्शन के निमित्त किये गये इस भ्रमण में स्वामीजी ने बहुत कुछ देखा और अनुभव किया था। इस यात्रा में राजा से लेकर रंक तक को उन्होंने अत्यन्त समीपता से देखा था। उनका हृदय जन-जन में फैले अज्ञान और कुसंस्कार से खिन्न था। अशिक्षा और निर्धनता जन-जन में, घर-घर में डेरा डाले पड़ी हुई थी। किसी समय उनका विचार था कि देशी नरेशों के द्वारा और दूसरे धनी-मानी व्यक्तियों के द्वारा वे अपने कार्य की सिद्धि का यत्न करेंगे पर उनकी यह आशा दुराशा-मात्र सिद्ध हुई। उन्होंने स्पष्ट देख लिया था कि ये लोग प्रभुत्व और सम्पत्ति के मायापाश में आबद्ध हैं। इन्हें देश, धर्म और देश-बन्धुओं से विशेष प्रयोजन नहीं है। इनके सहारे बैठे रहकर कुछ नहीं होगा। इन्हें भोग-विलास से ही अवकाश नहीं मिलता। पूर्वकाल का 'राजा' का आदर्श लुप्त हो चुका था। ये राजा प्रजा-पालक नहीं, प्रजा-शोषक थे। यह सब देख-सोचकर स्वामीजी की हृदय-वेदना

और भी बढ़ गयी थी। कर्तव्य का गुरुभार उन्हें प्रतिक्षण चिन्तातुर रखता था। अब वे इस निश्चय पर पहुँचे कि शिक्षित, चरित्रवान् तथा त्यागवृत्ति के सेवाभावी युवक ही जातीय गौरव और राष्ट्रोत्थान के कार्य को कर सकते हैं। इस प्रकार जहाँ स्वामीजी के ज्ञान और अनुभव में अभूतपूर्व वृद्धि हुई थी, वहाँ उनकी विचारधारा में भी वांछित परिवर्तन हुआ था। भारत-भ्रमण के निमित्त वराहमठ से चलने वाले स्वामी विवेकानन्द और भ्रमण करते-करते दक्षिणापथ में पहुँचे विवेकानन्द में यद्यपि ऊपरी तौर पर कोई अन्तर नहीं आया था, पर उनका मनोमय जगत एकदम परिवर्तित हो गया था।

कन्याकुमारी की यात्रा का स्वामी विवेकानन्द के जीवन में विशेष महत्त्व है। अतः इस स्थान से सम्बन्धित पौराणिक कथा को यहाँ उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा।

प्रजापति दक्ष के यज्ञ में जब सती अपने पति शिव का अपमान न सह सकने के कारण अग्निकुण्ड में स्वाहा हो गयीं तब दोबारा जन्म ग्रहण कर सती ने कन्या अवस्था में पुनः शिव को पतिरूप में प्राप्त करने के लिए कठोर तपस्या प्रारम्भ कर दी। यही वह स्थान है। और कुमारी कन्या के तप के कारण ही इस स्थान का नाम कन्याकुमारी पड़ा। कुमारी ने प्रण किया था कि या शिव को वररूप में पाऊँगी या आजीवन कुमारी रहूँगी। यहाँ सागर-तट से कोई दो फर्लांग दूर समुद्र के भीतर वह शिला आज भी विद्यमान है, जहाँ खड़े होकर कन्या ने शिव की आराधना की थी। इस शिला का नाम श्रीपाद शिला है। कन्या के चरण-चिह्न इस पर विद्यमान हैं।

इसी शिला पर स्वामी विवेकानन्द समाधिमग्न हुए थे। दो दिन, दो रात उनकी यह समाधि अटूट रही थी। और इस समाधि के बाद ही जैसे उनका जन्मान्तर हो गया था। जीवन में जो कुछ सत्य, शिव और सुन्दर है, उसे उन्होंने देख लिया था।

इसी शिला पर स्वामी विवेकानन्द शिलास्मारक का निर्माण उन दिनों हो रहा था। इस शिलास्मारक से सम्बन्धित कुछ विवरण इस प्रकार है :

यह शिला तट से कोई दो फर्लांग भीतर समुद्र में है। यह कोई चार या

फुट चौड़ी और पाँच सौ फुट लम्बी है। समुद्र की सतह से इसकी ऊँचाई लगभग पचपन फुट है। इस स्मारक पर कोई पचास लाख रु०खर्च हुआ।

कन्याकुमारी के तट पर खड़े स्वामी विवेकानन्द को इस सिद्धशिला के चुम्बकीय आकर्षण ने बलात् अपनी ओर खींच लिया था। तट से शिला तक जाने के लिए कोई साधन उपलब्ध नहीं था। पर महापुरुषों के कार्यों की सिद्धि साधनों पर निर्भर नहीं करती। साधना-सम्पन्न संन्यासी का दृढ़ संकल्प देखकर समुद्र उन्हें अपनी लहरों पर दुलराता हुआ शिला तक ले गया था। भूतकाल में भी भगवान् राम को लंका-विजय के लिए जब सागर पर सेतु बनाने की आवश्यकता हुई थी तो समुद्र ने विनम्र भाव से अपनी सेवाएँ समर्पित की थीं। उन्हीं भगवान् राम के सेवक वीरवर हनुमान अपने दृढ़ मनोबल से छलाँग मारकर समुद्र को फलाँग गये थे। और फिर यही संन्यासी इससे कुछ समय बाद बिना साधनों के सप्त समुद्रों को लाँघकर सुदूर अमरीका तक गया था। और इसी संन्यासी ने भव-सागर का संतरण किया था। तो यह दो फलाँग का जल-संतरण करके वे शिला पर आसनबद्ध होकर बैठे थे। जो स्थान किन्हीं पूर्व महामानवों द्वारा तपःपूत होते हैं, उन्हें अध्यात्म की शब्दावली में सिद्धपीठ कहा जाता है। इन सिद्धपीठों में साधन, भजन करने पर शीघ्र सिद्धिलाभ होता है। यही हुआ भी। स्वामी विवेकानन्द को यहाँ योग-समाधि द्वारा एक नये मन्त्र के दर्शन हुए। भारतमाता के मुकुटस्वरूप हिमालय से इन्होंने यात्रा प्रारम्भ की थी। आज सेतु को उसके चरण पखारते देखकर उनका माथा भी माँ के चरणों पर झुक गया था। आज भारतमाता का एक दिव्य रूप उनके सामने प्रकट हुआ था। पुराणों की, शिव के लिए कन्या की तपस्या की कथा, नये अर्थ में, नयी भावभूमि में प्रकट हुई थी। कहाँ उत्तर कैलाश में शिवजी का वास और कहाँ दक्षिणी तट पर कन्या का उनके लिए तप। कितनी दूरी लगती है। पर नहीं, जब हृदय में प्रेम-भाव हो तो दूरी कैसी! उत्तर और दक्षिण भारतमाता के ही तो छोर-छोर हैं।

इस स्थान का एक और भी महत्त्व है। यह तीर्थराज है। प्रयागराज में जैसे तीन नदियों का संगम होने से त्रिवेणी तीर्थ बन गया है, वैसे ही

यहाँ तीन सागरों का संगम है—एक ओर वंग सागर, दूसरी ओर अरब सागर, सम्मुख हिन्द महासागर। यह शिला अपने-आप में ही एक महत्त्व-पूर्ण प्रेरणा-प्रतीक है। अनन्त काल से अनन्त जलराशि से प्रक्षालित, अनगिनत तूफानों में अविचल स्वयं एक योगी जैसी प्रतिभासित होती है। ऐसे योगी जैसी जिसे अखण्ड निर्विकल्प समाधि का लाभ हो गया हो।

इस श्रीपादशिला पर समाधिमग्न विवेकानन्द की भावधारा क्या थी, यह तो वे ही जानें या उनके अन्तर्यामी, पर इस समाधि के अनन्तर उनके विचार और कार्य से कुछ-कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

उनके मानसपटल पर मातृभूमि भारत के दो चित्र उभर रहे थे। एक था अतीत का भारत और दूसरा था वर्तमान भारत।

ऋषियों-मुनियों की पुण्यभूमि और तपोभूमि भारत वेदगान से मुखरित, यज्ञाग्नि से दीप्त, यज्ञधूम से सुवासित, जीवन के उदात्त तत्त्वों की छानबीन में व्यस्त मुनिजन, सत्य के साक्षात्कार से आनन्दित ऋषिगण, प्रजापालन में जागरूक राजागण, अपने-अपने कर्तव्य-कर्म द्वारा सिद्धि-लाभ में लगे साधारण जन, न कहीं दैन्य है, न कहीं अभाव। अवतारों की एक लम्बी शृंखला चली आ रही है। महापुरुषों की अटूट परम्परा है। देश-देशान्तर के लोग अपनी ज्ञान-पिपासा मिटाने के लिए चले आ रहे हैं। मानव मात्र को शान्ति प्रदान करने वाला अमृतजल हमारे ही पास था। त्यागपूर्वक भोग की समन्वय साधना के साधक हमीं थे। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (उस एक को ही विद्वान् लोग नाना रूपों में वर्णित करते हैं) हमने ही बताया था। अहं ब्रह्मास्मि (मैं ब्रह्म हूँ) यह सिंहनाद हमारा ही था। मर्त्यलोक में पैदा होकर भी हम अमर थे, क्योंकि आत्मा की अमरता का हमें ज्ञान था। हमीं स्वर्ग से गंगा को भूतल पर उतार लाये थे। रामायण और महाभारत हमारे ही चरित काव्य हैं। वाल्मीकि और व्यास भारत माँ के ही वरद पुत्र थे। राम-कृष्ण, बुद्ध-महावीर और नानक ने इसी धरा पर शरीर धारण करके इसके गौरव को बढ़ाया था। दूर-दूर देशों में हमारे पूर्वपुरुष मानव-संस्कृति का सद्सन्देश लेकर गये थे। हम अजेय और अपराजित थे।

परन्तु वर्तमान भारत का चित्र इससे सर्वथा विपरीत है : विदेशियों द्वारा विजित, शासित, आत्मज्ञान-गौरव से शून्य, अपने इतिहास और परम्पराओं की गरिमा से विहीन, दुःख-दैन्य से ग्रस्त, दुर्भिक्ष-महामारी आदि प्राकृतिक प्रकोपों से ताड़ित, रोग-शोक से संत्रस्त, निर्बल शरीर में निर्बल मन-मस्तिष्क से युक्त, उदर-पूर्ति की चिन्ता में दिन-रात मग्न, मूर्तिमंत दैन्य के समान; इस तुलनात्मक चित्र ने वीतराग संन्यासी के वज्र कठोर हृदय को भी व्यथित-मथित कर दिया। ऋषि सन्तानों के इस पराभव से उनका हृदय हाहाकार कर उठा। वे सोचने लगे, लाखों साधु-महात्मा इन साधारण जनों के दिये हुए अन्न-वस्त्र से जीवन धारण करते हैं, पर इसके बदले में इन बेचारों को क्या देते हैं! रूखा उपदेश! 'परलोक' में फलने वाले आशीर्वाद! यह सब उनके किस काम का है? उन्हें रोटी-कपड़ा चाहिए। भूखे को भोजन के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिये। उपदेशों-आशीर्वादों से उसका पेट नहीं भरेगा। भूखे को धर्मोपदेश कोई मूर्ख ही दे सकता है। उसे शिक्षा चाहिए। अन्न-वस्त्र चाहिए। इस व्यवस्था के लिए सेवाव्रती मनुष्य चाहियें और चाहिये प्रचुर धन। यह सब कहाँ से आयेगा? कैसे जुटेगा? जो समर्थ हैं, वे प्रमादी हैं। दूसरों की चिन्ता उन्हें नहीं है। अपने भोग-विलास में मद-मस्त हैं। तो फिर इन कोटि-कोटि नर-नारियों का क्या होगा?

इसी चिन्ता का घना कुहरा उन्हें चारों ओर से घेरे हुए था कि एकाएक प्रकाश की एक दिव्य किरण उनके भीतर से प्रस्फुटित हुई। भीतर से विचार आया, 'श्री गुरुदेव के आशीर्वाद से मैं इस कार्य का भार ग्रहण करूँगा। उन्हीं की कृपा से गाँव-गाँव और नगर-नगर से ऐसे हजारों व्यक्ति कर्मक्षेत्र में आएँगे जो स्वार्थों को तिलाञ्जलि देकर दरिद्रनारायण की सेवा का व्रत लेंगे। परन्तु धन! धन के लिए मैं कहाँ नहीं भटका। सारा भारत तो घूम लिया। सारे राजा-महाराजा टटोल लिए। इनसे मुझे क्या मिला? केवल मौखिक सहानुभूति। वे न तो अपने भोग-विलास में कमी करने के लिए प्रस्तुत हैं और न ही लोक-कल्याण के लिए खर्च करने के लिए। प्रत्येक राजा यदि अपने राज्य-भर में शिक्षा और कृषि की उन्नति

के लिए यत्न करे तो कितना बड़ा कार्य हो सकता है, कितने लोगों को अन्न-वस्त्र मिल सकता है। पर वे यह सब नहीं करेंगे। वे नहीं करना चाहते, न करें! मैं विदेश जाऊँगा। वहाँ से अर्थोपार्जन करके लाऊँगा और देशबन्धुओं की सेवा में उसे व्यय करूँगा। मोक्ष के लिए यत्नशील संन्यासी जब ध्यानासन से उठे तो मात्र अपनी मुक्ति की कामना उन्हें स्वार्थ जैसी लगने लगी। कोटि-कोटि बन्धुओं की दुःख-निवृत्ति में ही उन्हें आत्मकल्याण का मार्ग दिखायी दिया। आत्मा के मोक्ष और जगत् की हित-चिन्ता दोनों का सामंजस्य इसी में दिखा। करुणा-विगलित हृदय से इस संन्यासी ने निश्चय किया कि यदि एक-एक मानव का दुःख दूर करने के लिए मुझे सौ-सौ बार जन्म लेना पड़े तो लूँगा।

यही वह घड़ी थी जिसके लिए वर्षों श्री रामकृष्ण परमहंस इन्हें तैयार करते रहे थे। यही वह पावन कार्य था जिसके लिए स्वामी विवेकानन्द अवतरित हुए थे। यह वह ईश्वरीय कार्य था जिसका निमित्त बनने का श्रेय उन्हें प्राप्त होना था। व्यक्ति के मोक्ष की कामना समष्टि के मोक्ष की अभिलाषा में परिवर्तित हो गयी थी। मन के संशय छिन्न हो गये थे। ग्रन्थियाँ खुल गयी थीं। कर्तव्याकर्तव्य में अब कोई विचिकित्सा नहीं थी। उन्हें अपना कर्तव्य-कर्म सम्मुख स्पष्ट दिखायी दे रहा था। कर्मशक्ति के महान् वेग को जिस द्विविधा ने अवरुद्ध कर रखा था, उसके हटते ही शक्ति का सागर उन्हें अपने भीतर ठाठें मारता अनुभव होने लगा। यह शक्ति कुछ करने के लिए मचल रही थी। सुप्त सिंह जाग उठा था। प्रसुप्त कुण्डलिनी जाग्रत् होकर ऊर्ध्वमुखी हो गयी थी। ऊर्ध्वचेता युवा संन्यासी की ऊर्ध्वगामी शक्तियाँ उन्मुख हो गयी थीं। उनका भीतर-बाहर दिव्य आलोक से भर गया था। उन्होंने सूक्ष्मतर से सूक्ष्मतम साधना-भूमिका में प्रवेश किया था। एक दिन श्री रामकृष्ण परमहंस ने कहा था, सुवर्ण का आभूषण बनाने के लिए उसमें कुछ ताम्र मिलाना पड़ता है। लोक-व्यवहार में इसे खोट कहते हैं। निर्विकल्प समाधि का प्रत्यक्ष अनुभव करके जब विवेकानन्दजी उनके पास गये थे तो एक बात और उन्होंने कही थी—'कपाट बन्द। चाभी मेरे पास। जब कार्य सिद्ध हो जायेगा तो कपाट फिर

खुल जाएँगे।' उनका स्पष्ट उद्देश्य यही था कि जगत्-कल्याण का कार्य जब तक नहीं कर लोगे, आत्मा के मोक्ष का द्वार बन्द रहेगा।

कन्याकुमारी से वे पांडिचेरी गये। उस समय पांडिचेरी पर फ्रांस का अधिकार था। यहाँ कई युवक उनके शिष्य बने। यात्रा के अनेकविध कष्टों से क्लान्त शरीर को कुछ विश्राम देना आवश्यक प्रतीत होता था। सो उन्होंने वैसा ही किया। यहाँ एक दाक्षिणात्य पण्डित-प्रवर के साथ स्वामी जी का शास्त्रार्थ हुआ। पण्डित महोदय हिन्दू धर्म के जड़ताग्रस्त और अनुदार रूप का समर्थन कर रहे थे, जिसके अनुसार विदेश-यात्रा, चौके के बाहर का भोजन और इस तरह के आचार-व्यवहार का निषेध था। स्वामीजी उसके गतिशील स्वरूप का पक्ष ले रहे थे, जिसमें न तो विदेश-यात्रा निन्दित थी और न इस तरह के अन्य प्रगतिशील कार्य। वे चौके-चूल्हे की परिधि में बन्द हिन्दू धर्म के पक्षपाती नहीं थे। पर पण्डितजी तर्क और युक्ति के बिना ही अपने पक्ष के शास्त्रसम्मत होने का आख्यान कर रहे थे। वे स्वामीजी की बात को तो सुनना ही नहीं चाहते थे। इस पर स्वामीजी ने उपस्थित श्रोताओं को सम्बोधित करते हुए कहा, "आप सब लोग शिक्षित हैं। कर्तव्याकर्तव्य-विवेक आपमें है। क्या करणीय है और क्या अकरणीय, इसका विचार आप करें। हमें समाज को प्रतिगामी रूढ़ियों से निकालकर प्रगतिशील समाजों के समकक्ष खड़ा करना होगा। जो-जो आचार-नियम समाज के विकास और पोषण में विघ्नस्वरूप हैं, उनका शीघ्रातिशीघ्र त्याग कर देना होगा।"

युवकों ने स्वामीजी के विचारों का करतल-ध्वनि से स्वागत और अनुमोदन किया।

एक दिन स्वामीजी दण्ड-कमण्डलु लिए राजपथ पर घूम रहे थे। मद्रास सरकार के उच्चाधिकारी श्री मन्मथनाथ भट्टाचार्य सरकारी कार्य से यहाँ आये हुए थे। उन्होंने स्वामीजी को पहचान लिया। फिर तो वे स्वामीजी को अपने पास ले गये। जब उनका कार्य पूरा हुआ तो दोनों ने मद्रास के लिए प्रस्थान किया। मद्रास में सारा शिक्षित-सुसंस्कृत समाज स्वामीजी के पास जमा होने लगा। विश्वविद्यालय के प्रतिभाशाली छात्र

और अध्यापक प्रतिदिन उनसे धर्म, दर्शन और साहित्य के सम्बन्ध में चर्चा करने लगे। पाश्चात्य नास्तिक दर्शनों का अध्ययन करने से अनेक छात्रों के मन में धर्म व ईश्वर के सम्बन्ध में जो सन्देह उत्पन्न होते हैं, उन सभी से वे स्वयं भली प्रकार परिचित थे। इसलिये इस बारे में पूछे गये प्रश्नों के उत्तर देने में उन्हें कुछ भी विलम्ब नहीं लगता था। उनके पास आने वाले छात्रों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती गयी और उनमें से अनेक स्वामीजी के शिष्य बन गये।

मद्रास में ईसाई कॉलेज के विज्ञान के अध्यापक श्री सिंगरावेलु मुदालियार, जो स्वयं नास्तिक थे, युवक छात्रों के स्वामीजी के प्रति आकर्षण से कुछ चिन्तित हो उठे। उन्होंने निश्चय किया कि मैं स्वयं जाकर स्वामीजी से ईश्वर की सत्ता के बारे में तर्क और युक्ति से वाद-विवाद करूँगा। निश्चित है कि यह स्वामी मेरे तर्कों को काट नहीं सकेगा। इस प्रकार छात्रगण अपने स्वामीजी को परास्त होते देखकर उनके प्रति श्रद्धा खो बैठेंगे। एक दिन वे उपर्युक्त विचार से दल-बल सहित स्वामीजी के यहाँ आये। थोड़ी देर के तर्क-वितर्क के बाद मुदालियार महोदय को उत्तर देना कठिन हो गया। इतना ही नहीं, स्वामीजी के तपःपूत व्यक्तित्व का कुछ ऐसा प्रभाव मुदालियार महोदय पर पड़ा कि वे ईश्वर-विश्वासी हो गये और स्वामीजी के शिष्य भी। उनका यह परिवर्तन सभी के लिए विस्मय-कारी था। स्वामीजी मुदालियार महोदय को 'किड़ी' कहकर पुकारते थे और उनसे बड़ा स्नेह करते थे। बाद में किसी समय के इस नास्तिक अध्यापक की गुरुभक्ति आदर्श थी। निकट भविष्य में जब स्वामीजी विदेश चले गये तो वहाँ से उनका आदेश पाकर श्री मुदालियार रामकृष्ण संघ के मुखपत्र 'प्रबुद्ध भारत' (अंग्रेजी) के सम्पादन का सारा कार्य करने लगे। और फिर थोड़े समय बाद ही उन्होंने सांसारिक कार्य-व्यवहार को छोड़कर 'दरिद्रनारायण' की सेवा के लिए अपने को अर्पित कर दिया था।

o o o

निकट भविष्य में शिकागो (अमेरिका) में एक महासम्मेलन होने वाला था। इस सम्मेलन के साथ ही एक विराट धर्मसभा का आयोजन हो

रहा था। आयोजकों की ओर से घोषणा की गयी थी कि पृथ्वी के सभी धर्म-सम्प्रदायों के प्रतिनिधि व्याख्याताओं के रूप में धर्मसभा में सम्मिलित हो सकेंगे और अपने-अपने धर्म-सम्प्रदाय का तात्त्विक विवेचन श्रोताओं के समक्ष प्रस्तुत कर सकेंगे।

मद्रास में स्वामीजी के कुछ उत्साही शिष्यों ने उनसे हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि व्याख्याता के रूप में सभा में सम्मिलित होने का आग्रह किया। इस यात्रा में व्यय आदि के लिए उन्होंने पाँच सौ रुपये भी एकत्र करके स्वामीजी को दिये। स्वामीजी सोचने लगे कि विश्व-भर के धर्म-सम्प्रदायों के आचार्यों के समक्ष हिन्दू धर्म का प्रतिनिधित्व करने की योग्यता सम्भवतः मुझमें नहीं है। इसी संकोचवश वह पाँच सौ रुपये की राशि उन्होंने शिष्यों को लौटा दी और उन्हें कहा कि इन रुपयों को दरिद्रनारायण की सेवा में खर्च करो। यदि जगन्माता की इच्छा और आज्ञा मुझे धर्मसभा में भेजने की हुई तो शेष व्यवस्था भी वे कर ही देंगी। स्वामीजी का यह आदेश सुनकर शिष्यों का सारा उत्साह ठंडा पड़ गया। बड़े कष्ट से उन्होंने यह राशि एकत्र की थी। जिस उद्देश्य से एकत्र की थी, उससे भिन्न उद्देश्य में खर्च करने की यद्यपि उनकी इच्छा नहीं थी, पर गुरु की आज्ञा का उल्लंघन भी तो नहीं किया जा सकता था!

इन्हीं दिनों श्री मन्मथनाथजी के पास हैदराबाद से उनके मित्र स्टेट इंजीनियर श्री मधुसूदन चट्टोपाध्याय का पत्र आया, जिसमें स्वामीजी को हैदराबाद भेजने का अनुरोध किया गया था। स्वामीजी से स्वीकृति लेकर श्री मन्मथनाथजी ने श्री मधुसूदनजी को सूचित कर दिया कि दस फरवरी को स्वामीजी हैदराबाद पहुँचेंगे।

स्वामीजी जब हैदराबाद स्टेशन पर पहुँचे तो अपने स्वागतार्थ आये हुए लोगों की भीड़ को देखकर विस्मित हो गये। हैदराबाद तथा सिकन्दराबाद के गण्यमान्य हिन्दू-मुस्लिम प्लेटफार्म पर उपस्थित थे। दण्ड-कमण्डलु हाथ में लिए, कौपीनधारी यह संन्यासी इस भीड़ में संकोच और लज्जा का अनुभव कर रहा था। उधर उपस्थित समुदाय उसके तेजस्वी गौर वर्ण और ब्रह्मचर्य से बलिष्ठ शरीर को देखकर श्रद्धा से जय-

जयकार कर रहा था। श्रद्धा-सुमनों से गुँथित पुष्प-मालाओं से स्वामीजी लद-से गये थे। परस्पर परिचय करती हुई यह मण्डली श्री मधुसूदन चट्टोपाध्याय के बंगले की ओर चल पड़ी। वहीं पर स्वामीजी के ठहरने की व्यवस्था की गयी थी। निजाम हैदराबाद के साले श्री नवाब सर खुर्शीदजंग बहादुर, अमीर-ए-कबीर, के० सी० आई० के निमन्त्रण पर स्वामीजी १२ फरवरी को उनके महल में पधारे। श्री खुर्शीद महोदय हिन्दू धर्म के प्रति यथेष्ट श्रद्धा रखते थे। वे प्राय: सभी प्रसिद्ध हिन्दू तीर्थस्थानों की यात्रा कर चुके थे। उन्होंने स्वामीजी का हार्दिक स्वागत किया और धर्म-सम्बन्धी विषयों पर चर्चा करने लगे। हिन्दू धर्म और इस्लाम धर्म और ईसाई धर्म के सम्बन्ध में चर्चा करते समय स्वामीजी ने इन धर्मों के मूल तत्त्वों का प्रतिपादन करके उनकी समन्वय-भूमि का स्पष्टीकरण किया तथा यह भी कहा कि सभ्य-शिक्षित जगत् के समक्ष वे वेदान्त के आधार पर सर्व-धर्म-समन्वय का प्रचार करना चाहते हैं। उनका विचार था कि सर्व-धर्म-समभाव की दृष्टि बन जाने पर सभी प्रकार के धार्मिक झगड़े शान्त हो जाएँगे और धर्म के वास्तविक स्वरूप से परिचय होने के कारण धर्म के नाम पर शोषण और अत्याचार बन्द हो जायेगा। स्वामी जी के सद्भाव और धर्म के उदात्त रूप की प्रतिष्ठा के विचार से नवाब साहब बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने विदेश यात्रा के व्यय के लिए तत्काल एक हजार रुपया स्वामीजी को देने की अपनी इच्छा बतायी। पर स्वामीजी ने धन लेना अस्वीकार कर दिया। उन्होंने कहा, "इससे पूर्व मेरे मित्र मैसूर के महाराजा तथा रामनद के राजाजी ने भी इस प्रकार की सहायता करने का आग्रह किया था, परन्तु मैं समझता हूँ, अभी इसका समय नहीं आया है। यदि भगवद् आदेश से मुझे विदेश जाना पड़ा तो मैं आपको अवश्य सूचित करूँगा।"

स्थानीय भद्र पुरुषों ने महबूब कॉलिज में स्वामीजी के व्याख्यान का आयोजन किया। सुपठित-सुशिक्षित श्रोताओं की भीड़ के समक्ष स्वामीजी ने 'पाश्चात्य जगत् के लिए मेरा सन्देश' इस विषय पर सारगर्भित भाषण दिया। श्रोतागण अत्यन्त मनोयोगपूर्वक इसे सुनते रहे और इस संन्यासी

की ज्ञान-गरिमा से अत्यन्त प्रभावित हुए।

एक सप्ताह बाद १७ फरवरी को स्वामीजी हैदराबाद के श्रद्धालु भक्तों से विदा लेकर पुनः मद्रास लौट आये। स्वामीजी अपने शिकागो धर्मसभा में जाने के विचार को एक प्रकार से छोड़ बैठे थे। किन्तु उनके शिष्यों और भक्तों की यह हार्दिक इच्छा थी कि स्वामीजी उस सभा में हिन्दू धर्म का प्रतिनिधित्व करें। उनमें से कुछ मिलकर धन-संग्रह के लिए मैसूर, रामनद तथा हैदराबाद भी गए। जब स्वामीजी ने देखा कि स्थानीय विशिष्ट व्यक्ति उन्हें धर्मसभा में भेजने के लिए सचेष्ट हैं और उसके लिए धन एकत्र कर रहे हैं तो स्वामीजी कुछ चिन्तित हुए। उन्होंने अपने प्रिय शिष्य श्री आलासिंगा पेरुमल महोदय को बुलाकर कहा, "यदि जगन्माता की इच्छा है कि शिकागो जाऊँ तो मुझे जाना ही होगा। मैं वहाँ हिन्दू धर्म का प्रतिनिधित्व करूँ, यह भी उचित ही है; पर क्या हिन्दू साधारण जन मुझे वहाँ भेजना चाहते हैं? उनकी सक्रिय इच्छा का पता लगाना जरूरी है। केवल राजा-महाराजाओं से सहायता न लेकर जन-साधारण से सहयोग लेकर धन-संग्रह करो।"

गुरुदेव की आज्ञा को मानकर भक्त और शिष्य प्रत्येक गृहस्थों के द्वार पर जाकर धन माँगने लगे। स्वामीजी की इच्छानुसार धन-संग्रह का कार्य होने लगा।

इन्हीं दिनों, एक रात को स्वामी विवेकानन्दजी ने स्वप्न देखा कि गुरुदेव श्री रामकृष्ण परमहंस महासागर की विस्तीर्ण जल-राशि पर पैदल चले जा रहे हैं और उन्हें अपने पीछे-पीछे आने के लिए संकेत कर रहे हैं। इस स्वप्न को गुरुदेव का आदेश मानकर स्वामी विवेकानन्द के मन की सारी दुविधा समाप्त हो गयी। वे शिकागो धर्मसभा में सम्मिलित होने के लिए यात्रा की तैयारी करने लगे। तभी उन्हें ध्यान आया कि विदेश यात्रा के लिए मातुश्री श्री सारदादेवी से अभी आज्ञा नहीं ली। अतः इस आशय का एक विस्तृत पत्र उन्होंने मातुश्री की सेवा में भेजा और अनुमति तथा आशीर्वाद की याचना की। मातुश्री की अनुमति और आशीर्वाद प्राप्त हो गया। अब तो स्वामी विवेकानन्दजी निर्द्वन्द्व भाव से तैयारी करने लगे।

शिष्यों और भक्तों का उत्साह देखने योग्य था। यात्रा की व्यवस्था में कहीं कोई कमी न रहे, ऐसा उनका यत्न था। सारी व्यवस्था पूर्ण हो गयी, तभी खेतरी राजभवन से श्री जगमोहन लाल आ उपस्थित हुए। वे स्वामी जी को खेतरी ले जाने के लिए आग्रह करने लगे। बात यह थी कि कुछ वर्ष पूर्व जब स्वामीजी खेतरी गये थे तो निःसन्तान राजा को पुत्र-प्राप्ति का आशीर्वाद दे आये थे। प्रभुकृपा और स्वामीजी के आशीर्वाद से राजा जी के घर पुत्र-जन्म हुआ था। उस बालक के अन्नप्राशन संस्कार में स्वामी जी को सादर ले जाकर उनका आशीर्वाद लेने के लिए ही जगमोहन लाल जी आये थे। उन्होंने आग्रहपूर्वक स्वामीजी को खेतरी चलने के लिए कहा और महाराज की मनोकामना भी बताई। उन्होंने यात्रा की व्यवस्था के लिए निश्चिन्त रहने का आश्वासन दिया और कहा कि व्यवस्था महाराज कर देंगे।

अन्त में स्वामीजी का खेतरी जाना निश्चित हुआ। साथ ही यह भी तय हुआ कि वहाँ से स्वामीजी बम्बई चले जायेंगे और बम्बई से जहाज पर सवार होकर अमेरिका के लिए प्रस्थान करेंगे। खेतरी जाने के लिए तैयार होकर स्वामीजी ने शिष्यों और भक्तों से विदा ली। शिष्यों ने प्रणिपातपूर्वक स्वामीजी के चरणों की धूलि को मस्तक पर धारण किया। स्वामीजी का हृदय इस भावपूर्ण विदाई से व्यथित हो उठा। वे आवेग को रोककर गाड़ी पर सवार हुए।

खेतरी में अन्नप्राशन का शुभ उत्सव राजोचित धूमधाम से सम्पन्न हुआ। स्वामीजी की उपस्थिति के कारण राजपरिवार के आनन्द की सीमा नहीं थी। उत्सव सम्पन्न होने के बाद अपने शिष्य राजाजी से विदा लेकर श्री जगमोहन लालजी के साथ स्वामीजी बम्बई आ गये। स्वामीजी के अन्यतम शिष्य श्री आलासिंगा पेरुमल मद्रास से पहले ही बम्बई पहुँच चुके थे।

स्वामीजी के लिए बढ़िया कपड़े खरीदने का विचार श्री जगमोहन लालजी ने प्रकट किया, पर स्वामीजी इसके लिए सहमत न हुए। पर श्री जगमोहन लाल ने यह विचार कर कि स्वामीजी राजगुरु हैं, अत्युत्तम

रेशमी वस्त्र ही उनके लिए खरीदने का निश्चय किया। धर्मसभा (शिकागो) में व्याख्यान देते समय पहनने के लिए एक गेरुए रंग का रेशमी चोला और पगड़ी बनाई गयी। यात्रा में स्वामीजी को कोई असुविधा न हो, यह सोच-कर और भी अनेक चीजें उन्होंने खरीदीं। पर सामान को देखकर स्वामी-जी चिन्तित हो उठे। दण्ड-कमण्डलधारी अपरिग्रही संन्यासी, जो अपने पास कभी कुछ नहीं रखता है, इतना सामान कैसे सम्भालेगा, यही चिन्ता का विषय था।

आखिर यात्रा का दिन और विदाई का क्षण आ ही गया। श्री जग-मोहन लालजी ने स्वामीजी के लिए प्रथम श्रेणी का केबिन सुरक्षित करवा रखा था। गद्‌गद कण्ठ से दोनों शिष्यों ने स्वामीजी का चरण-स्पर्श किया और स्वामीजी डबडबाई आँखों से उनसे विदाई लेकर जहाज पर चढ़े। जहाज ने एक जोर की सीटी बजायी और तट छोड़ दिया। यह ३१ मई, १८९३ ई० की बात है।

क्षणिक विछोह-वेदना के अनन्तर स्वामीजी के सामने भावी कार्य के निर्वाह की चिन्ता आ खड़ी हुई। अपने गुरुदेव श्री रामकृष्ण परमहंस की यह वाणी उन्हें स्मरण हो आयी कि 'सभी धर्म सत्य हैं और वे ईश्वर-प्राप्ति के विभिन्न उपाय-मात्र हैं।' वे और इसी प्रकार की अनेकानेक धर्म-चिन्तनाओं में मग्न वे अपने गन्तव्य की ओर बढ़ते रहे।

विवेकानन्द की दिग्विजय

जहाज में यात्रा करते समय सामान की देख-रेख करने में स्वामीजी को बहुत परेशानी मालूम हुई, पर शीघ्र ही वे अभ्यस्त हो गये। जहाज के कप्तान के साथ उनका अच्छा परिचय हो गया। जहाज पर ही वे विदेशी भोजन और विदेशी आचार-व्यवहार से भी परिचय करने लगे। सात दिन बाद उनका जहाज कोलम्बो(श्रीलंका)पहुँचा। उन्हें ध्यान आया कि उनके समानधर्मा एक बौद्ध भिक्षु ने ही भारत से आकर यहाँ बौद्ध धर्म का सन्देश पहुँचाया था। आज बौद्ध धर्म इस देश का राष्ट्रधर्म था। यहाँ जहाज को रुकना था इसलिए स्वामीजी उतर पड़े और एक गाड़ी करके सारे नगर को देख लिया। भगवान् बुद्ध के मन्दिर में जाकर शयन कर रहे भगवान् बुद्ध की निर्वाण-समय की प्रतिमा के दर्शन किये। कोलम्बो से जहाज चलकर मलाया के बन्दरगाह पिनांग और सिंगापुर होते हुए हांगकांग पहुँचा। वहाँ जहाज तीन दिन ठहरा। इस समय का सदुपयोग करने के लिए स्वामीजी दक्षिणी चीन की राजधानी कैंटन नगर देख आये। वहाँ उन्होंने अनेक बौद्ध मठों और मन्दिरों के दर्शन किये। चीन में भी उन्होंने भारत जैसी निर्धनता देखी। किन्तु जब उन्होंने जापान देखा तो अन्तर स्पष्ट दिखायी दिया। औद्योगिक क्रान्ति का जैसा प्रभाव उन्होंने जापान में देखा, वैसा भारत और चीन में दुर्लभ था। साफ-सुथरी सड़कें, हवा और प्रकाश की सुविधा वाले घर, जगह-जगह सुन्दर पुष्प-वाटिकायें और जलाशय। नागासाकी, याकोहामा, ओसाका, कियोटो तथा टोकियो आदि नगरों को देखकर स्वामीजी जापानियों की मन-ही-मन प्रशंसा करने लगे। पर इस देश के साथ जब अपने देश भारत की तुलना उन्होंने की तो निराशा से क्षुब्ध हो उठे।

याकोहामा से प्रशान्त महासागर पार कर जहाज वैंकुवर बन्दरगाह में आ पहुँचा। यहाँ से रेलयात्रा प्रारम्भ हुई। कैनेडा के मध्य से होती हुई रेल तीन दिन में शिकागो पहुँची। शिकागो नगर—जहाँ स्वामीजी की जान-पहचान का कोई नहीं था। गेरुआ चोगा पहने जब स्वामीजी शिकागो की सड़कों पर घूमने निकले, तो उनके इस विचित्र वेश को देखकर लोग उत्सुकता और जिज्ञासा से उन्हें देखने लगे। उस देश के लोगों के लिए स्वामीजी का यह वेश हँसी का कारण बन गया। बालकों की टोली स्वामीजी के पीछे-पीछे चलने लगी और उनका मजाक उड़ाने लगी। स्वामीजी ने एक होटल में ठहरने की व्यवस्था कर ली और रास्ते की थकान उतारने के लिए विश्राम करने लगे।

दूसरे दिन वे वहाँ हो रही प्रसिद्ध विश्व-प्रदर्शनी देखने गये। भौतिक-विज्ञान, यन्त्र-विज्ञान और उद्योग-विज्ञान में पश्चिम की उन्नति को देखकर स्वामीजी ने उन लोगों की कर्मण्यता की मन में खूब सराहना की। पश्चिम की जिज्ञासा, महत्त्वाकांक्षा और जीवन को सुखी-समृद्ध बनाने की इच्छा का उन्होंने अनुमोदन किया।

जब वे शाम को घूम-फिरकर अपने होटल में लौटे तो संवाददाताओं ने उन्हें आ घेरा। कुछ और सुधीजनों ने भी स्वामीजी के तेजस्वी मुख-मण्डल से अनुमान लगाकर उनके प्रति अपनी जिज्ञासा दिखायी।

यहाँ के मजदूर, गाड़ी वाले आदि स्वामीजी के भोलेपन का लाभ उठा-कर उचित से अधिक पैसे झाड़ने का यत्न करते थे। स्वामीजी यहाँ के लोगों को अन्धाधुन्ध पैसा खर्च करते देखकर सोच में पड़ जाते थे। उन्हें यह भी दिखायी देता था कि मेरे पास के रुपये इस तरह शीघ्र ही समाप्त हो जाएँगे।

इन्हीं दिनों स्वामीजी को एक और सूचना मिली जिससे स्वामीजी चिन्तित हो उठे। पता चला था कि धर्मसभा सितम्बर मास से पहले प्रारंभ नहीं होगी तथा जो लोग इस सभा में सम्मिलित होना चाहते हैं, उनके पास विधिवत् परिचय-पत्र आदि होने आवश्यक हैं, अन्यथा वे सम्मिलित नहीं हो सकेंगे। इसके अतिरिक्त उस समय तक धर्मसभा में प्रतिनिधित्व

करने के लिए आवेदन-पत्र देने की तिथि भी निकल चुकी थी। इन सब बातों को देखते हुए स्वामीजी को लग रहा था कि हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में मेरे लिये जाने की कोई सम्भावना नहीं है।

उन्हें यहाँ पहुँचे पन्द्रह दिन के लगभग हो गये थे। होटल का किराया-भाड़ा तथा भोजन आदि के खर्च में उनके पास की धनराशि प्राय: समाप्त हो चुकी थी। यद्यपि भगवान् पर परम आस्था रखने वाले स्वामी विवेकानन्द जानते थे कि जो कुछ होगा, ठीक ही होगा, फिर भी इस यात्रा से भारत स्थित उनके शिष्यों और भक्तों ने जो आशाएँ लगा रखी थीं, उनको पूरा न होते देख स्वामीजी चिन्तित हो उठे थे। वे सोचने लगते, 'इससे तो नहीं आता तो अच्छा था।' इसी उधेड़बुन में उन्होंने शिकागो से बोस्टन को प्रस्थान कर दिया। इस यात्रा के दौरान एक भद्र वृद्धा महिला से उनका परिचय हो गया। उनकी विचित्र वेशभूषा को देखकर वह महिला उनका परिचय प्राप्त करने के लिए उत्सुक हो उठी। जब उन्हें पता लगा कि पूर्व देश भारत का यह संन्यासी यहाँ वेदान्त का प्रचार करने के लिए आया हुआ है, तो श्रद्धावश इस महिला ने उन्हें आतिथ्य ग्रहण करने के लिए निमन्त्रित किया। उस भद्र महिला ने उन्हें यह आश्वासन भी दिया कि उनके वेदान्त के प्रचार-कार्य में भी वह सहयोग करेगी।

स्वामीजी इस महिला के मकान पर आकर कुछ निश्चित हुए। एक तो होटल का खर्चा बचा और स्थानीय लोगों से सम्पर्क की सम्भावना भी बढ़ी। स्वामीजी ने निश्चय किया कि कुछ महीने यहाँ रहकर प्रचार-कार्य करूँगा। यदि किसी प्रकार यह सम्भव न हुआ तो फिर इंग्लैण्ड चला जाऊँगा, और यदि वहाँ भी सफलता न मिली तो स्वदेश लौट जाऊँगा।

शिकागो धर्म-सभा में प्रतिनिधि के रूप में लिए जाने के सम्बन्ध में यद्यपि स्थिति निराशापूर्ण थी, फिर भी स्वामीजी विचलित नहीं हुए। वे जानते थे कि आज तक कोई भी महान् कार्य बिना विघ्न-बाधाओं के संपन्न नहीं हुआ है। इन विघ्न-बाधाओं से संघर्ष करके विजय पाने में ही तो मानव-चरित्र का वास्तविक महत्त्व प्रकट होता है।

यहाँ कुछ श्रद्धालु महिलाओं ने स्वामीजी को सुझाव दिया कि आप

अपने पहनावे में कुछ परिवर्तन करें। गेरुआ चोगा और पगड़ी केवल व्याख्यान के समय पहनने का उनका सुझाव था। अन्य समय पहनने के लिए एक लम्बा काला कोट उन्होंने बनवाया।

एक दिन उक्त महिला के मकान पर हार्वर्ड विश्वविद्यालय में ग्रीक भाषा के प्रोफेसर श्री जे० एच० राइट महोदय के साथ स्वामीजी का परिचय हुआ। उन्होंने स्वामीजी का अमेरिका आने का उद्देश्य जानकर कहा कि आप धर्म-सभा में सम्मिलित होइये और वेदान्त का प्रचार कीजिये। जब स्वामीजी ने अपनी कठिनाइयाँ उन्हें बतायीं तो प्रोफेसर महोदय बहुत विस्मित हुए। उन्होंने अपने एक मित्र श्री बनी के नाम, जो महासभा से सम्बन्धित थे, एक पत्र लिख दिया। इस पत्र में स्वामीजी की विद्वत्ता की चर्चा के साथ-साथ उन्हें सहयोग देने की भी प्रार्थना की गयी थी। इस पत्र को लेकर स्वामीजी फिर शिकागो लौट आये। रेल का टिकट भी इन प्रोफेसर महोदय ने ही ले दिया।

शिकागो स्टेशन पर पहुँचकर एक नयी समस्या सामने आयी। जिस दफ्तर का पता उन्हें चाहिए था, उसे कैसे ढूँढ़ें। पता खो गया था। उन्होंने कई लोगों से पूछा पर उनको काला आदमी समझकर घृणावश किसी ने पता नहीं बताया। रात काटने की भी कोई ठिकाना नहीं था। रात हो गयी। रेलवे मालगोदाम के पास पड़े एक बड़े-से बक्स में उन्होंने भूखे-प्यासे रहकर रात काटी। बाहर बर्फ पड़ रही थी और स्वामीजी के पास काफी कपड़े भी नहीं थे। प्रातःकाल वे फिर सड़क पर घूमने लगे। भूख से उनका बुरा हाल था। भोजन के लिए उन्होंने कई द्वार खटखटाए पर किसी को दया नहीं आयी। उलटे लोगों की घृणा, ताड़ना और उपेक्षा मिली। आखिर थके-हारे स्वामीजी सड़क के किनारे एक जगह बैठ गये। सहसा उनके सामने सड़क पार स्थित विशाल भवन का द्वार खुला। एक भद्र महिला ने स्वामीजी के पास आकर पूछा कि क्या आप धर्म-सभा में सम्मिलित होने के लिए आये हैं? स्वामीजी ने संक्षेप में अपना परिचय और कठिनाई कह सुनायी। उन्होंने डा० बैरोज साहब के दफ्तर का पता खो जाने की बात भी बतायी। वह महिला स्वामीजी को अपने घर ले गयी और नौकरों को

उनकी समुचित सेवा आदि में नियुक्त किया। उस महिला ने यह भी कहा कि प्रातराश के बाद वे स्वामीजी के साथ धर्म-सभा में चलेंगी।

इस भद्र महिला का शुभ नाम था श्रीमती जार्ज डब्ल्यू० हैल। स्वामी जी पर इनका मातृवत् स्नेह-भाव रहा और वेदान्त के प्रचार-कार्य में भी इनसे बड़ा सहयोग मिला। वे स्वामीजी के साथ धर्म-सभा गयीं और स्वामी जी को हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार कर लिया गया। फिर तो उन्हें प्रतिनिधियों के लिए निर्दिष्ट मकान में रहने का स्थान मिल गया।

इस धर्म-सभा में भारत से अन्य प्रतिनिधि भी आये थे। ब्रह्मसमाज की ओर से श्री प्रतापचन्द्र मजूमदार थे। जैन समाज का प्रतिनिधित्व श्री वगरकर और श्री वीरचन्द्र गांधी कर रहे थे। थियोसोफी सोसायटी के प्रतिनिधि थे श्रीमती एनी बेसेण्ट और चक्रवर्ती।

विशाल सभा-भवन में हजारों सुशिक्षित नर-नारी श्रोता बैठे हुए थे। मंच पर सभी प्रतिनिधि उपस्थित थे। स्वामीजी सार्वजनिक सभाओं में व्याख्यान देने के अभ्यस्त नहीं थे। उनका दिल धक्-धक् करने लगा। उनका मुँह सूखता जा रहा था। उन्हें लग रहा था कि वे भाषण नहीं कर सकेंगे। दूसरा कारण यह भी था कि सभी वक्ता अपना-अपना भाषण लिखकर लाये हुए थे। पर स्वामीजी ने वैसी तैयारी नहीं की थी। अन्ततः जब भाषण करने की उनकी बारी आयी तो वाग्देवी को मन ही मन नमस्कार करके वे भाषण के लिए आगे बढ़े। बैरोज महोदय ने श्रोताओं को वक्ता का परिचय दिया। स्वामीजी के गेरुआ वस्त्रों को देखकर यह संन्यासी श्रोताओं को दूसरों से कुछ भिन्न अवश्य लगा और वे सावधान होकर सुनने लगे।

ज्यों ही स्वामीजी ने 'अमेरिका निवासी भाइयो और बहनो' कहकर श्रोताओं को सम्बोधित किया, दो मिनट तक लगातार तालियाँ बजती रहीं। इस करतल ध्वनि से सारा सभा-भवन गूँज उठा। तालियाँ थमने पर स्वामीजी ने फिर व्याख्यान प्रारम्भ किया। उनका भाषण संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित था। श्रोताओं ने इसे बहुत पसन्द किया। और बस, इस एक संक्षिप्त भाषण से ही स्वामी विवेकानन्द की ख्याति सारे अमेरिका में फैल गयी। दूसरे दिन सभी समाचार-पत्रों में मोटे शीर्षकों में स्वामीजी के

भाषण की प्रशंसा की गयी थी।

११ सितम्बर, १८९३ ई० का दिन धार्मिक जगत् के इतिहास में विशेष स्मरणीय रहेगा। पूर्व और पश्चिम के विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों के प्रमुख प्रतिनिधिगण इसी दिन एकत्र सम्मिलित हुए थे। सभा-भवन श्रोताओं से भरा पड़ा था। इस दिन स्वामी विवेकानन्द फिर व्याख्यान करने के लिए खड़े हुए। वे सभी प्रतिनिधियों से अवस्था में कम और सभी धर्मों में प्राचीन और वरिष्ठ हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि थे। गैरिक वस्त्रों से विभूषित यह गौरवर्ण संन्यासी सूर्योदय जैसा भास्कर प्रतीत होता था। यद्यपि वे संन्यासी थे किन्तु अपने हृष्ट-पुष्ट शरीर के कारण धर्मयोद्धा जैसे लगते थे। जहाँ शेष सभी प्रतिनिधियों ने श्रोताओं को पारम्परिक सम्बोधनों—महिलाओं तथा श्रीमानों—से पुकारा था, वहाँ इस वेदान्ती संन्यासी ने अपने हृदय की सहजता के साथ 'भाइयो और बहनो' कहकर सम्बोधित किया था। मानव-मात्र में ब्रह्म को देखने वाले इस संन्यासी के लिए जो सहज था वही पश्चिम के श्रोताओं के लिए असाधारण था। उस एक सम्बोधन से ही स्वामीजी ने विश्व-बन्धुत्व की स्थापना कर दी थी और सभी हृदयों में प्रेम-स्नेह का संचार कर दिया था। स्वामी विवेकानन्द की अमृत-वाणी ने जो अमृत-वर्षा हुई, उससे सभी के हृदय शान्त रस में डूब गए। उन्होंने धर्म-द्वन्द्व के परित्याग, स्वाधीनता के नाम पर स्वेच्छाचारिता के परित्याग, जातीयता और राष्ट्रीयता के नाम पर दूसरे पर अत्याचार, धर्म के नाम पर दूसरों के धर्म पर आक्रमण का निषेध आदि उच्च उदार मानव-आदर्शों की प्रस्थापना पर बल दिया।

१९ सितम्बर को स्वामीजी का 'हिन्दू धर्म' नामक लोक-विख्यात भाषण होने के बाद, कुछ लोगों ने यह कहकर विरोध किया कि वर्तमान हिन्दू धर्म वही नहीं है, जिसकी प्रस्थापना स्वामीजी ने की है।

उन्होंने यह भी कहा कि मूर्ति(जड़)की पूजा करने वाले हिन्दू, स्वामी विवेकानन्द की मूर्तिपूजा की दार्शनिक व्याख्या से किंचिन्मात्र भी संबंधित नहीं हैं। इस प्रकार का अनर्गल प्रचार करने वाले और हिन्दू धर्म की प्रतिष्ठा से विचलित होने वाले एक देशवासी—ईसाई गुरु थे। उन्होंने धर्म-

सभा के अधिकारियों को यहाँ तक कहा कि स्वामी विवेकानन्द को सभा से निकाल बाहर करें। सभा के आयोजकों ने उनकी अव्यावहारिक बातों को मानने से इन्कार कर दिया और स्वामीजी को प्रतिपक्षियों द्वारा उठायी गई आपत्तियों का उत्तर देने के लिए कहा। वेदान्त-दर्शन के साथ प्रचलित हिन्दू धर्म का क्या सम्बन्ध है, इसका विवेचन स्वामीजी ने आलोचना सभा में २२ सितम्बर को किया। प्रतिपक्ष की आपत्तियों का युक्ति और तर्क से खण्डन करते हुए उन्होंने हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता और उच्चाशयता प्रमाणित की।

२५ सितम्बर को स्वामीजी ने 'हिन्दू धर्म का सार' नामक भाषण दिया। भाषण करते समय बीच में रुककर उन्होंने श्रोताओं को लक्ष्य करके प्रश्न किया, "इस सभा में उपस्थित जो महानुभाव हिन्दू धर्म व शास्त्र के साथ भली प्रकार से परिचित हैं, वे हाथ उठाएँ।" इस पर सात हजार श्रोताओं में से केवल तीन-चार ने हाथ उठाए। इस पर स्वामीजी व्यंग्य और क्षोभ के साथ बोले, "और फिर भी आप हमारे हिन्दू धर्म की आलोचना करने की हिम्मत करते हैं।" इस पर सभासदों में गम्भीर चुप्पी छा गयी और हिन्दू धर्म की आलोचना करने वालों के मस्तक झुक गये।

अन्त में २७ सितम्बर को धर्म-सभा के अन्तिम अधिवेशन में स्वामीजी ने सिंहगर्जनापूर्वक कहा, "जो लोग इस धर्म-सभा में सम्मिलित हुए और प्रवचन सुनते रहे, वे भी यदि हृदय में ऐसी भावना रखेंगे कि कोई विशेष धर्म किसी समय-विशेष में सारे जगत् का एकमात्र धर्म हो जायेगा अथवा कोई विशेष धर्म ही ईश्वर-प्राप्ति का एकमात्र साधन है और अन्य धर्म भ्रामक हैं, वे लोग वास्तव में दया के पात्र हैं।" अपने गुरुदेव श्री रामकृष्ण परमहंस के सर्वधर्म-समन्वय का सन्देश देते हुए उन्होंने कहा, "प्रत्येक जाति और प्रत्येक धर्म दूसरी जातियों और धर्मों के साथ आदान-प्रदान करेगा, कुछ लेगा और कुछ देगा। किन्तु प्रत्येक अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करेगा और अपनी-अपनी अन्तर्निहित शक्ति के अनुसार आगे बढ़ेगा। आज से धर्मध्वजाओं पर यह लिख देना चाहिए कि 'युद्ध नहीं, सहयोग; ध्वंस नहीं एकात्मता; भेद नहीं, सामंजस्य!'"

अमेरिका-भर में स्वामी विवेकानन्द की प्रसिद्धि की दुन्दुभि बजने लगी। अनेक धर्म-जिज्ञासु उनसे परिचित होने, धर्म-तत्त्व की चर्चा करने तथा शंकाएँ दूर करने के लिए उनके पास आने लगे। सभी समाचार-पत्रों के स्तम्भ स्वामीजी के यशोगान से भरने लगे। अमेरिका के अग्रणी दैनिक 'न्यूयार्क हेरल्ड' ने तो यहाँ तक लिख दिया कि "शिकागो धर्म-सभा में विवेकानन्द ही सर्वश्रेष्ठ धर्म-व्याख्याता हैं। उनका भाषण सुनकर ऐसा लगता है कि धर्म-मार्ग में इस प्रकार के समुन्नत राष्ट्र (भारत) में यहाँ से धर्म-प्रचारकों को भेजना निरी मूर्खता है।"

एक दूसरे पत्र 'प्रेस ऑफ अमेरिका' ने लिखा, "हिन्दू धर्म व दर्शन के आचार्य स्वामी विवेकानन्द सभी सभासदों में अग्रगण्य हैं। उनकी वाणी में जादू का असर है। यद्यपि ईसाई-जगत् के अनेक धर्माचार्य वहाँ उपस्थित थे, पर उन सभी के भाषण-वक्तव्य स्वामीजी के व्याख्यानों के सामने फीके पड़ गये। स्वामीजी ने धर्म-तत्त्वों की ऐसी प्रस्थापना की कि वे श्रोतामंडली के हृदय पर गम्भीरता से अंकित हो गये।"

धर्म-सभा के समाप्त होने के महीनों बाद तक समाचार-पत्रों में स्वामी जी प्रशंसा और चर्चा के विषय बने रहे। उनके चरित्र, प्रतिभा और धर्म-तत्त्व के ज्ञान का आख्यान करते लोग थकते नहीं थे। उनके व्याख्यानों को लेकर अनेक विद्वानों की शास्त्रीय आलोचनाएँ प्रकाशित होने लगीं। अनेक संवाददाता, प्रेस-प्रतिनिधि, धर्म एवं दर्शन के प्राध्यापक और पंडित तथा अन्य धर्म-जिज्ञासु उनके पास आने लगे। केवल दर्शन मात्र के लिए आने-वालों की तो गिनती ही नहीं थी। जगह-जगह उनके चित्र लग गये थे और लोग बड़ी श्रद्धा के साथ इस भारतीय संन्यासी के बारे में बातें करते थे।

धर्म-सभा का कार्यक्रम समाप्त होने के साथ ही स्वामीजी की लोक-प्रियता, प्रसिद्धि और भाषणकला की जादूगरी से प्रभावित होकर एक व्याख्यान कम्पनी ने, स्वामीजी को अमेरिका के प्रमुख नगरों में व्याख्यान देने के लिए निमन्त्रित किया। इस निमन्त्रण को स्वामीजी ने स्वीकार कर लिया और विभिन्न नगरों में व्याख्यान देने लगे। वे जहाँ कहीं भी जाते, श्रोता उन्हें सुनने के लिए उमड़ पड़ते। सभी प्रमुख नगरों से, वहाँ आने के

लिए सानुरोध निमन्त्रण आने लगे।

भारत का जो कुत्सित और घिनौना रूप, भारत-स्थित ईसाई धर्म-प्रचारकों ने वहाँ प्रचारित किया था, उसका स्वतः ही खण्डन हो गया। वहाँ के समझदार लोग यह मानने लगे कि भारत अब भी धर्म-गुरु के आसन का वास्तविक अधिकारी है और अभी हमें भारत से बहुत कुछ सीखना है। स्वामीजी हिन्दू धर्म की विशेषताओं को तो दर्शाते थे किन्तु अन्य धर्म के खण्डन में रुचि नहीं लेते थे। उनका दृष्टिकोण बड़ा स्पष्ट था, जैसा कि धर्म-सभा के अन्तिम दिन उन्होंने प्रतिपादित किया था। सभी धर्म ईश्वर-प्राप्ति के विभिन्न मार्गों के समान हैं। वे सभाओं में प्रवचन देते समय प्रायः ईसाई श्रोताओं से पूछते, "तुम्हारा ईसाई धर्म कहाँ है? स्वार्थ की इस लड़ाई, प्रतिदिन की इस विनाशलीला के बीच करुणा और दया के अवतार ईसा का स्थान कहाँ है? क्या यह सब ईसा की शिक्षा है?"

'वसुधैव कुटुम्बकम्' (सारा संसार अपना परिवार) मानने वाले इस संन्यासी के मित्रों और श्रद्धालुओं की संख्या दिनों-दिन बढ़ने लगी। अनेक उदारचेता पादरी उनकी धर्मतत्त्व की व्याख्या से प्रभावित होकर, अपने उपासनागृहों में व्याख्यान देने के लिए स्वामीजी को आमन्त्रित करने लगे। अपने व्याख्यान के बाद प्रायः प्रश्न करने वालों के प्रश्नों का उत्तर स्वामी जी देते। उनकी उत्तर देने की विशेषता का वर्णन करते हुए एक पत्र ने लिखा था, "जिस किसी ने भी अपनी युक्ति व तर्क द्वारा स्वामीजी को परास्त करने का प्रयास किया, उस अभागे के सभी प्रयत्न निष्फल हुए। उनका उत्तर तीर की तरह निकल पड़ता था और सीधा लक्ष्य पर आघात करता था। प्रश्नकर्ता भारतीय मस्तिष्क की तीक्ष्णता से आहत हो जाता था।"

पूरे अमेरिका में स्वामीजी की बढ़ती हुई ख्याति से भयभीत होकर कुछ ईसाई धर्म-प्रचारक नगर-नगर में घूमकर उनके विरुद्ध प्रचार करने लगे। वे स्वामीजी पर तरह-तरह के लांछन तो लगाने ही लगे, वे धन का प्रलोभन देकर कुछ सुन्दरी तरुणियों को स्वामीजी के पास भी भेजने लगे जिससे स्वामीजी भ्रष्ट-चरित्र हो जाएँ और वे सप्रमाण उनके विरुद्ध प्रचार कर सकें। जब उनको इसमें सफलता नहीं मिली तो स्वामीजी को भय

दिखाकर प्रचार-कार्य से रोकने का यत्न करने लगे। पर वे बेचारे क्या जानते थे कि अभय तो भारतीय अध्यात्म-साधना की पहली शर्त है।

स्वामी विवेकानन्द अपनी अभूतपूर्व प्रशंसा को सुनकर जैसे फूलकर कुप्पा नहीं हो गये थे वैसे ही विरोधियों के प्रचार से भी विचलित नहीं हुए। वे पूरी तन्मयता के साथ आगे प्रचार-कार्य में लगे रहे। स्वामीजी के मित्र तथा स्नेही उन्हें सावधान रहने का परामर्श देने लगे। उनका यह सुझाव भी था कि स्थानीय लोकाचार की निन्दा न करके सबको प्रिय लगने वाली बातें ही व्याख्यानों में कही जाएँ। किन्तु वे क्या जानते थे कि यह भारतीय संन्यासी किसी दूसरी ही धातु का बना हुआ है। उन्होंने 'हाथी चढ़े न डोलिए, कूकर भौंकें लाख' की कहावत को चरितार्थ करते हुए न्याय-पथ को न केवल छोड़ा ही नहीं, अपितु दृढ़तापूर्वक उस पर आगे बढ़ते रहे।

धर्म-सभा में प्राप्त स्वामीजी की सफलता के समाचार भारत में भी पहुँचे। हिन्दूमात्र इस संन्यासी के कार्यों का विवरण कुतूहल व आग्रह के साथ सुनने लगे। रामनद तथा खेतरी के राजाओं ने, जो स्वामीजी के शिष्य भी थे, अपने गुरुदेव की सफलता का सारी प्रजा में बखान किया। स्वामी जी को इस सफलता पर बधाई के पत्र भी लिखे।

मद्रास में, जहाँ के उत्साही शिष्यों के विशेष अनुरोध पर स्वामीजी धर्म-सभा में सम्मिलित होने गये थे, सर रामास्वामी मुदालियार तथा दीवान बहादुर सर सुब्रह्मण्यम् अय्यर महोदय के नेतृत्व में एक विराट सभा का आयोजन हुआ। इस सभा ने सर्वसम्मति से स्वामीजी के प्रचार-कार्य का अभिनन्दन किया और उन्हें बधाई-पत्र लिखा।

स्वामीजी की जन्मभूमि कलकत्ता में लोगों के उत्साह और आनन्द का क्या कहना! यहाँ भी एक विशाल सभा का आयोजन हुआ और सभी सुप्रतिष्ठित नागरिक उसमें सम्मिलित हुए। स्वामी विवेकानन्दजी के प्रचार-कार्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी और इस महान् कार्य के लिए उनका धन्यवाद किया गया। शिकागो धर्म-सभा के सभापति श्री बैरोज महोदय का भी इस सभा ने धन्यवाद किया।

देश-भर में नवजागरण की एक लहर-सी दौड़ गयी। आत्महीनता के

भाव आत्मगौरव में बदल गये। एक व्यक्ति ने अपनी घनीभूत शक्ति से सारे राष्ट्र के मानस को आत्मगौरव की चेतना से भर दिया। यह शक्ति तप और वैराग्य की शक्ति थी। यह शक्ति सार्वभौम मानव की हितचिन्ता की शक्ति थी। यह शक्ति 'अहम् ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) मन्त्र की शक्ति थी। यह आत्मा-परमात्मा के एकीकृत रूप की शक्ति थी।

शिकागो धर्म-सभा की समाप्ति के बाद भी लगभग एक वर्ष तक स्वामीजी नगर-नगर में घूमकर व्याख्यान देते रहते थे। उनके सभी भाषणों की प्रतिलिपियाँ नहीं रखी जा सकीं। वे लिखित भाषण नहीं देते थे। यहाँ तक कि शिकागो धर्म-सभा में भी उन्होंने स्वतन्त्र धाराप्रवाह अलिखित भाषण ही दिया था। उस समय की पत्र-पत्रिकाओं में बहुत-सी सामग्री प्रकाशित हुई थी।

फरवरी, १८९४ में उन्होंने डिट्राइट यूनिटेरियन चर्च में एक व्याख्यानमाला दी थी। मार्च, अप्रैल, मई और जून—इन महीनों में उन्होंने शिकागो, न्यूयार्क और बोस्टन के आसपास स्थित नगरों में व्याख्यान दिये थे। जून में वे ग्रीनएकर के एक सम्मेलन में भाषण देने के लिए गए। यहाँ के कुछ उत्साही छात्र वेदान्त दर्शन की शिक्षा प्रदान करने के लिए उनसे प्रार्थना करने लगे। स्वामीजी भी सहर्ष स्वीकारपूर्वक उन्हें शिक्षा देने लगे। इन शिष्यों की शिक्षा भारतीय गुरुकुलों जैसी रीति-नीति के अनुसार खुले आकाश के नीचे, वृक्षों की छाया में, भूमि पर बैठकर होती थी। जुलाई से सितम्बर तक विभिन्न स्थानों में प्रचार-कार्य कर अक्तूबर में स्वामीजी ब्रुकलिन तथा वाशिंगटन में भाषण देकर न्यूयार्क लौटे। न्यूयार्क की एक छोटी-सी पारिवारिक सभा, जिसका नाम 'ब्रुकलिन नैतिक सभा' था, के सभापति डाक्टर लुइस जी० जेम्स स्वामीजी का भाषण सुनकर मुग्ध हो गये। उन्होंने उक्त सभा में व्याख्यान देने के लिए स्वामीजी को निमन्त्रित किया। इनके आयोजकत्व में एक विशाल भवन में, हजारों श्रोताओं के सम्मुख स्वामीजी प्रतिदिन हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में भाषण देने लगे। एक प्रकार से यहाँ दिये गये भाषणों से ही वेद-प्रचार के कार्य का आरम्भ मानना चाहिए, क्योंकि यहीं पर और इन्हीं दिनों घूम-घूमकर व्याख्यान

देना बन्द करके उन्होंने न्यूयार्क में स्थायी रूप से योग और वेदान्त की शिक्षा देने के लिए कक्षा आरम्भ की। व्याख्यान कम्पनी के तत्त्वावधान में व्याख्यान देना यद्यपि आर्थिक दृष्टि से पर्याप्त लाभदायक था, पर स्वामी जी को यह नहीं रुचा। उन्होंने घोषणा की कि भविष्य में वे बिना शुल्क लिए ही व्याख्यान तथा उपदेश दिया करेंगे। ब्रुकलिन तथा ग्रीनएकर में जिन गिने-चुने व्यक्तियों को स्वामीजी ने शिष्य बनाया था, वे योग और वेदान्त की कक्षा में नियमित रूप से सम्मिलित होने लगे। अब स्वामीजी की प्रवृत्ति इस बात की ओर हुई कि व्यक्तिगत सम्पर्क, शिक्षा और अभ्यास द्वारा कुछ उत्साही शिष्यों का निर्माण किया जाए जो भविष्य में इस कार्य के संचालन में सहायक हो सकें। उन्हें लगा कि भाषणों में भीड़ तो इकट्ठी हो जाती है किन्तु प्रभाव स्थायी नहीं होता। यही सोचकर उन्होंने अपनी कार्यविधि में वांछित परिवर्तन कर लिया। यद्यपि इस परिवर्तन से प्रारम्भ में उन्हें भारी कठिनाई का सामना करना पड़ा, क्योंकि भाषणों के लिए निमन्त्रणदाताओं का आग्रह बराबर बना रहता था और उन्हें टालने में कठिनाई होती थी। उनके कई स्थानीय मित्रों को यह बात कुछ विचित्र लगी कि व्याख्यानों के शुल्क से होने वाली आय को स्वामीजी ने क्यों छोड़ दिया। अर्थप्रधान समाज में, भारतीय संन्यासी के मानस को समझ पाना उतना सरल नहीं था। स्वामीजी को व्याख्यानों के शुल्क से जो आय होती थी, उसे वे दान कर डालते थे। अमेरिका तथा भारत की अनेक सेवाभावी संस्थाएँ स्वामीजी से असंभावित, आशातीत सहायता पाकर चकित-चमत्कृत हुई हैं। अर्थप्रधान पाश्चात्य जगत् में जहाँ पग-पग पर प्रचुर धन की आवश्यकता पड़ती है, स्वामीजी सदा कल की चिन्ता किए बिना भारतीय संन्यासी की अपरिग्रह वृत्ति का पालन करते रहे। उन्होंने कभी कल की चिन्ता नहीं की। कल की कल देखेंगे, यही व्रत उनका रहा। जैसा कि सर्वत्र होता है, पहले-पहल तो जोश के अतिरेक में अमेरिकावासियों ने उनकी खूब प्रशंसा की, उन्हें मित्रभाव से ग्रहण किया और उनसे स्नेह किया, पर उन्हें गुरु और आचार्य नहीं माना। वास्तव में वहाँ की जीवन पद्धति में भारतीय ढंग की गुरु-भक्ति या शिष्य-भाव प्रचलित नहीं था और

स्वामीजी उनके मानस को भारतीय धर्म-साधना के अनुकूल चिन्तन में ढालना चाहते थे। जब उनके निकट सम्पर्क में आने वाले अमेरिकावासियों ने देखा कि इस संन्यासी का जीवन बाहर-भीतर से एक जैसा है, इसके मन, वाणी और कर्म में कहीं विरोध का भाव नहीं है और भौतिक सुखों के लिए इसमें लेशमात्र भी कामना नहीं तो उनकी निष्ठा बढ़ चली। वे समझने लगे कि हमारे ही कल्याण के लिए यह पूर्व का योगी हिन्दू धर्म के साररूप वेदान्त का अमृतफल लेकर हमारे देश में आया है। इस प्रकार कुछ सात्त्विक-उदारवृत्ति के लोग उनसे धर्म-तत्त्व की शिक्षा लेने के लिए आने लगे।

वेदान्त-प्रचार का कार्य करने में स्वामीजी को जिन-जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, उनकी कहानी बड़ी लम्बी है। ईसाई, थियोसोफी आदि विभिन्न मतावलम्बी तो स्वामीजी का विरोध कर ही रहे थे, कुछ दूसरी पाखण्डी संस्थाएँ, जो जादू और चमत्कार जैसे करतब दिखाकर लोगों से धन बटोरती थीं और इसे धनोपार्जन का साधन बनाये हुए थीं, स्वामीजी के प्रभाव को देखकर उन्हें तरह-तरह के प्रलोभन देने लगीं। जब उससे कोई परिणाम नहीं निकला तो भय दिखाने लगीं। फिर भी उनका स्वार्थ सिद्ध नहीं हुआ। इसी प्रकार ईसाई प्रचारकगण जब तर्क और युक्ति से स्वामीजी से पार न पा सके तो उन्होंने भी ओछे हथकण्डों का प्रयोग किया। यदि कोई परिवार उपदेश के लिए स्वामीजी को बुलाता तो ये उनके पास पहुँचकर उसे बहकाते कि यह स्वामी ठीक आदमी नहीं है। कई बार उन्हें अपने कार्य में तात्कालिक सफलता मिल जाती। निमन्त्रण देने वाला परिवार निमन्त्रण को रद्द कर देता और स्वामीजी को आने के लिए मना कर देता। कई बार तो ऐसा भी होता कि जब स्वामीजी निमन्त्रणदाता के निवास पर पहुँचते तो द्वार बन्द मिलता और वापस लौट आते। पर प्रायः ऐसा होता कि बहकाये गये ये लोग बाद में आकर पश्चात्ताप करते और अपने अभद्र व्यवहार के लिए क्षमा माँगते।

एक अन्य शक्तिशाली संगठन का भी स्वामीजी को सामना करना पड़ा। इस दल के लोग अपने को 'स्वतन्त्र-चेता' (फ्री-थिंकर) कहते थे। इस

दल का मन्तव्य था कि धर्म और ईश्वर एक ढकोसला है। भोले-भाले लोगों को ठगने के लिए ही इनकी आड़ ली जाती है। एक दिन इस संस्था ने स्वामीजी को अपने यहाँ भाषण देने और वाद-विवाद करने के लिए निमन्त्रित किया। निर्भीक संन्यासी स्वामी विवेकानन्द वहाँ गये और नास्तिकता का खण्डन तथा वेदान्त की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया। अब तो उनके गढ़ में भी दरार पड़ गयी और अनेकानेक नास्तिक स्वामीजी के शिष्य बन गये। इससे उनका स्वामीजी का विरोध भी बन्द हो गया। इन सब विघ्न-बाधाओं के शान्त होने पर ही वेदान्त-प्रचार का कार्य सम्भव हो सका। यह कथन सत्य ही है कि जितना बड़ा पुण्य-कार्य, उसे सम्पन्न करने में उतनी ही बड़ी विघ्न-बाधाएँ। किन्तु महासत्त्व पुरुष विघ्न-बाधाओं से न केवल घबराते नहीं, अपितु उन्हें अपने मार्ग से दूर भी हटाते हैं और इसी-लिए वे महापुरुष कहलाते हैं।

न्यूयार्क में वेदान्त-शिक्षा की कक्षा में स्वामीजी शिक्षा देने का कार्य करने लगे। यह कमरा बहुत छोटा था। बैठने की व्यवस्था धरती पर थी। इस प्रकार बैठने का अभ्यास न होने पर भी जिज्ञासु शिष्य शान्त भाव से पालथी मार बैठे रहते थे। इन दिनों स्वामीजी राजयोग और ज्ञानयोग पर व्याख्यान दे रहे थे। राजयोग-सम्बन्धी भाषणमाला को सुनकर अनेक शिष्यों की रुचि योग की विधिवत् शिक्षा लेने की ओर हुई। स्वामीजी ने उनकी निष्ठा देखकर योग-शिक्षा देना स्वीकार कर लिया। इसके लिए जिन यम-नियमों का पालन आवश्यक है, वे उनका पालन तत्परता से करने लगे।

शिष्यों को शिक्षा देने के साथ-साथ स्वामीजी ने भी योग के नियमों का कठोरता से पालन प्रारम्भ कर दिया और शरीर की कठिन साधना से तपाना प्रारम्भ कर दिया। इससे शिष्यों के सामने एक आदर्श योगी का उदाहरण प्रस्तुत हो गया। वे जो कुछ पढ़ते थे, उसे प्रत्यक्ष देखते भी थे। स्वामीजी का यह छोटा-सा निवास-स्थान आश्रम का संक्षिप्त रूप प्रस्तुत करने लगा। यह ऐसा ही लगता था जैसे किसी भारतीय महावृक्ष का एक पौधा अमेरिका की धरती पर रोप दिया गया हो और उसके लिए एक

भारतीय माली नियुक्त कर दिया गया हो। राजयोग से संबंधित व्याख्यानों में नियमित रूप से आने वाले शिष्यों के अतिरिक्त अन्य अनेक दार्शनिक, वैज्ञानिक और अध्यापक भी सम्मिलित होते थे। राजयोग-सम्बन्धी व्याख्यानों के संकलन से 'राजयोग' नामक पुस्तक तैयार हो गयी। उसके परिशिष्ट के रूप में पातंजल योगदर्शन का भाष्य भी स्वामीजी ने जोड़ दिया। इसका प्रकाशन हुआ और माँग इतनी बढ़ी कि कुछ ही सप्ताहों में इसके तीन संस्करण प्रकाशित करने पड़े।

स्वामीजी ने प्रचार-कार्य में सहायता करने वाले प्रतिष्ठित शिष्यों का एक दल बना लिया था। इसमें पुरुष भी थे और महिलाएँ भी। इनमें कुछ तो भूतपूर्व ईसाई प्रचारक थे। कुछ समय बाद विख्यात गायिका मैडम कैल्वे ने स्वामीजी का शिष्यत्व ग्रहण किया। न्यूयार्क समाज के समृद्धिशाली दम्पति श्रीमान् व श्रीमती फ्रांसिस लीगेट और कुमारी जे० कैबिलरोड ने भी स्वामीजी का शिष्यत्व ग्रहण किया। ये सज्जन भी प्रचार-कार्य में पूरा-पूरा सहयोग देने लगे। स्थानीय 'डिक्सन सोसायटी' के सदस्यों ने हिन्दू जीवन-पद्धति के महत्त्व को समझकर, हिन्दू आदर्श पर जीवन का निर्माण करने के लिए उत्साहपूर्वक कार्य आरम्भ कर दिया।

अपने चारों ओर लौकिक सुख-भोगों के लिए दौड़ते-भागते अमेरिकावासियों को देखकर और समस्त क्रियाकलाप में भोग-वासना की ही प्रेरणा से प्रेरित नर-नारियों को देखकर कभी-कभी स्वामीजी का मन कहीं दूर, कहीं निर्जन में भाग जाने को करता। अनवरत परिश्रम, हर घड़ी भीड़-भाड़ से घिरे रहने के कारण भी वे अपने को कुछ क्लान्त और उदास अनुभव कर रहे थे। उन्होंने कुछ दिन विश्राम करने का निश्चय किया। सेंट-लारेन्स नदी के बीच 'सहस्र द्वीपोद्यान' (थाउजैंड आइसलैंड पार्क) नामक द्वीप में उनकी एक शिष्या की मनोरम कुटिया थी। उस शिष्या ने विशेष आग्रह के साथ वहाँ चलकर विश्राम करने की स्वामीजी से प्रार्थना की। स्वामीजी इस प्रस्ताव से सहमत हो गये और गिने-चुने शिष्य-शिष्याओं के साथ वहाँ के लिए चल दिये। स्वामीजी वहाँ सात सप्ताह तक रहे। इस प्रवास

दिव्यवाणी की वर्षा से व्याप्त रहे। ब्रह्म के सम्बन्ध में जब वे बता रहे होते थे तो लगता था कि यह गूढ़ विषय हथेली पर रखे आमले की तरह ही उनके लिए स्पष्ट था। कभी-कभी वे अपने हाथ से स्वादु भारतीय भोजन बनाकर शिष्यों को खिलाते थे। स्नेहमयी माता की तरह शिष्यवर्ग से व्यवहार करते थे। इस प्रवासावधि में पाँच शिष्यों ने ब्रह्मचर्य की दीक्षा ली और दो ने संन्यास की। सात सप्ताह के प्रवास के बाद वे फिर न्यूयार्क लौट आए और द्विगुणित उत्साह के साथ प्रचार-कार्य में दत्तचित्त हो गए।

इंग्लैंड से वेदान्त की अनुरागिणी कुमारी हैनरी एटामुलर ने स्वामीजी को निमन्त्रित किया। साथ ही एक दूसरे स्नेही ई० टी० स्टर्डी महोदय स्वामीजी को लन्दन आने के लिए बार-बार पत्र लिख रहे थे। संयोग की बात, इन्हीं दिनों न्यूयार्क के एक धनपति ने, जो स्वामीजी के मित्र भी थे, स्वामीजी के सामने प्रस्ताव रखा कि साथ-साथ फ्रांस तथा इंग्लैंड की यात्रा की जाए। इस प्रस्ताव को स्वामीजी ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। अमेरिका में प्रचार-कार्य का भार स्वामी अभयानन्द, कृपानन्द तथा बहन हरिदासी पर छोड़कर स्वामीजी अगस्त के मध्य में फ्रांस के पेरिस नगर में पधारे। पश्चिमी सभ्यता की जन्मभूमि पेरिस नगर के दर्शनीय स्थानों को देखकर स्वामीजी इंग्लैंड चले गये।

उधर भारत में ईसाई प्रचारक स्वामीजी का विरोध करने में तत्पर थे। वे पत्रों, छोटी-छोटी प्रचार-पुस्तिकाओं तथा मौखिक व्याख्यानों द्वारा स्वामीजी के आचार-व्यवहार पर आक्षेप करके हिन्दू समाज की दृष्टि में उन्हें पतित सिद्ध करने की चेष्टा में लगे हुए थे। इसके साथ ही वे यह भी प्रचार कर रहे थे कि स्वामीजी धार्मिक नेता नहीं, राजनैतिक प्रचारक हैं।

ईसाई प्रचारकों के स्वर में स्वर मिलाकर कलकत्ते का 'बंगवासी' नामक पत्र भी स्वामीजी के विरुद्ध प्रचार करने वालों में प्रमुख था। ईसाई धर्म-प्रचारकों के स्वार्थ को स्वामीजी के कारण निश्चय ही क्षति पहुँची थी—भारत में भी और विदेशों में भी। भारत में उन्हें हिन्दुओं को ईसाई बनाने में कठिनाई होने लगी और विदेशों में भारतीयों को असभ्य और जंगली बताकर उनके सुधार-संस्कार के लिए जो धन एकत्र किया जाता था, उसमें

रुकावट पड़ गई। इसलिए उनकी बौखलाहट समझ में आती थी। किन्तु 'बंगवासी' द्वारा, जो हिन्दू जाति का प्रमुख पत्र था, विरोध करना समझ से बाहर था। वास्तव में 'बंगवासी' के सम्पादक स्वामीजी के उदार दृष्टि-कोण और हिन्दू धर्म को चौके-चूल्हे की सीमा से बाहर निकालने की घोषणा के तत्त्व को आत्मसात् नहीं कर सके थे। वे गतानुगतिक चिन्तन के कारण विपक्ष में जा खड़े हुए थे। इस निन्दा-प्रचार का बराहनगर मठ में स्वामी जी के गुरुभाइयों पर यद्यपि कोई प्रभाव नहीं पड़ा किन्तु मद्रास तथा देश के अन्य विविध भागों में फैले हुए उनके श्रद्धालुओं और शिष्यों में कुछ बेचैनी अवश्य फैली। पर स्वामीजी के लिए तो निन्दा-स्तुति एकसमान थी। फिर शिष्यों तथा श्रद्धालुओं के पथ-प्रदर्शन के लिए उन्होंने एक पत्र लिखने की आवश्यकता समझी। अपने पत्र में उन्होंने निम्न आशय व्यक्त किया, "मुझे आश्चर्य हो रहा है कि आप लोग ईसाई धर्म-प्रचारकों द्वारा प्रचारित झूठी और छलपूर्ण बातों को सुनकर विचलित हो उठे हैं। यदि कोई मुझे चौके-चूल्हे मात्र को हिन्दू धर्म की सीमा मानने की बिना माँगे सलाह देते हैं तो उन्हें चाहिए कि वे एक ब्राह्मण रसोइया तथा द्रव्यराशि यहाँ भेजने की व्यवस्था कर दें। मैं किसी के शोर मचाने और निन्दा करने की रत्ती-भर भी परवाह नहीं करता हूँ। मैं अपने जीवन के लक्ष्य से भली-भाँति परिचित हूँ। मैं किसी का भी क्रीतदास नहीं हूँ। ईश्वर और सत्य ही एकमात्र मेरे साध्य और आराध्य हैं।"

स्वामीजी ने इंग्लैंड पहुँचते ही जोर-शोर से धर्म-चक्र का प्रवर्तन प्रारम्भ कर दिया। पाश्चात्य पत्रकारों में वे 'आँधी पैदा करने वाले हिन्दू' (साइक्लोनिक हिन्दू) नाम से प्रसिद्ध हो गये थे।

लन्दन में प्रतिदिन प्रातः प्रश्नोत्तर का और तीसरे पहर प्रवचन का कार्यक्रम चलने लगा। दिनों-दिन श्रद्धालुओं की भीड़ बढ़ने लगी। एक दिन स्थानीय 'पिकाडैली प्रिंसेस हाल' में हजार से भी अधिक गण्यमान्य श्रोताओं के सामने स्वामीजी ने 'आत्मज्ञान' विषय पर अपना सारगर्भित व्याख्यान दिया। बहिर्मुख प्रवृत्ति वाले पाश्चात्य समाज में, जहाँ विज्ञान के नये-नये आविष्कारों, उद्योग-धन्धों तथा सुख-सुविधाओं के कारण भोगवादी

विचारों का प्राबल्य था, स्वामीजी ने उनके जीवन की निःसारता का और अध्यात्म-जगत् की विशिष्टता का ऐसा तर्कसम्मत विवेचन किया कि सभी समाचार-पत्रों और विद्वन्मण्डली में उनके पाण्डित्य की चर्चा होने लगी। फिर तो बड़े-बड़े विद्वान् उनके उपदेश सुनने के लिए आने लगे।

एक दिन व्याख्यान की समाप्ति कर कु० मार्गरेट ई० नोबल का स्वामी जी से परिचय हुआ। यह विदुषी महिला एक पाठशाला में अध्यापन-कार्य करती थीं। यही कुमारी मार्गरेट बाद में स्वामीजी की शिष्या बनकर भगिनी निवेदिता के नाम से प्रसिद्ध हुईं। वह प्रतिदिन व्याख्यान सुनने आने लगीं। उनकी श्रद्धा और निष्ठा दिनों-दिन बढ़ती गई। वह मन ही मन स्वामीजी को गुरु मानने लगीं। फिर भी विधिवत् शिष्या बनने का विचार उन्होंने स्थगित रखा और अपने गुरु का और भी बारीकी से निरीक्षण करने लगीं।

अमेरिका में वेदान्त-प्रचार के कार्य का प्रचार हो रहा था। वहाँ के भक्त, शिष्य और कार्यकर्ता स्वामीजी की वहाँ उपस्थिति की आवश्यकता अनुभव कर रहे थे। वे बार-बार पत्रों द्वारा स्वामीजी से अमेरिका लौट आने का आग्रह कर रहे थे। इधर लन्दन के लोग उन्हें वहाँ से जाने देना नहीं चाहते थे। स्वामीजी ने ग्रीष्मकाल में लन्दन लौट आने का आश्वासन देकर अमेरिका जाने का निश्चय किया। इन्हीं दिनों स्वामीजी की सभाओं में से कई बार कोई सच्ची किन्तु कड़वी बात सुनकर कुछ लोग उठकर चले जाते थे। इंग्लैंड में, भारत जिनके अधीन था, इस प्रकार की घटनाएँ अधिक होती थीं। एक दिन सभा में भारत का गौरव-गान करते स्वामीजी को सुनकर एक श्रोता बोल उठा, "भारत के हिन्दुओं ने अब तक किया ही क्या है। वे किसी भी दूसरे देश को जीत नहीं सके।" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "नहीं, ऐसे मत कहिये। उन्होंने जीतना चाहा ही नहीं। यही उनका गौरव है। वे पराई वस्तु को कभी ललचाई दृष्टि से नहीं देखते। वे कोई चोर-डाकू नहीं हैं जो लूट-मार करें और व्यर्थ में लोगों का खून बहाएँ।"

एक सभा में किसी ने प्रश्न किया, "आप जब भारत को धर्मगुरु कहते हैं तो इसके पूर्व आपके देश का कोई धर्माचार्य धर्म-प्रचार करने के लिए

यहाँ क्यों नहीं आया ?" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "उस समय तुम्हारे पूर्वज असभ्य और जंगली थे। वे नग्नप्राय अवस्था में जंगलों में रहते थे। इस दशा में हम उन्हें कहाँ खोजते और कैसे शिक्षा देते !"

ऐसे ही एक दिन ईसाई धर्मावलम्बियों की आलोचना सुनकर एक श्रोता ने प्रश्न किया, "स्वामीजी, आप ईसाई तो हैं नहीं, इसलिए ईसाई धर्म के आदर्श और तत्त्व को आप कैसे समझ सकते हैं ?" स्वामीजी ने तत्काल उत्तर दिया, "तुम्हारे प्रभु ईसा पूर्व देश के ही सर्वस्व-त्यागी संन्यासी थे। मैं भी उन्हीं की तरह एक पूर्व देश का संन्यासी हूँ। मैं तुम्हारी अपेक्षा उन्हें अधिक समझता हूँ। मैं तो कहूँगा कि आप लोग अभी तक ईसा के उपदेश को ठीक से समझ नहीं पाए हैं। क्या उन्होंने यह नहीं कहा था कि 'जाओ, अपना सब-कुछ बाँट दो, तब आकर मेरा अनुसरण करो।' ईसा को माननेवाले तुम्हारे देश के कितने लोगों ने उनकी इस बात को मानकर कि 'धनी व्यक्ति के स्वर्ग राज्य में प्रवेश पाने की अपेक्षा ऊँट का सुई के छेद से निकलना अधिक सरल है' अपना धन-धान्य त्याग दिया है !" प्रश्न पूछनेवालों की इस प्रकार स्पष्ट उत्तर सुनकर जो स्थिति होती थी, उसका अनुमान सहज लगाया जा सकता है। बेचारे अपना-सा मुँह लेकर चुप रह जाते।

बोस्टन की एक धनी भद्र महिला ने स्वामीजी के प्रचार-कार्य का सारा खर्च स्वयं देने का वचन देते हुए, वहाँ पधारकर प्रचार करने के लिए एक पत्र लिखा। इसे प्रभु प्रदत्त सुयोग मानकर स्वामीजी ने वहाँ जाने का निश्चय किया। इंग्लैंड की शिष्य-मण्डली एक संस्था के रूप में संगठित करके और कार्यविधि का उचित निर्देश देकर, तीन महीने के लन्दन-प्रवास के बाद स्वामीजी अमेरिका लौट गए।

अमेरिका में स्वामीजी की अनुपस्थिति में उनके शिष्य—स्वामी कृपानन्द, स्वामी अभयानन्द तथा भगिनी हरिदासी, जिनकी चर्चा पहले कुमारी वाल्डो के नाम से हुई है—प्रचार-कार्य को चला रहे थे। उत्साही प्रचारक जहाँ कहीं भी जाते, लोगों की भीड़ इनका व्याख्यान सुनने के लिए एकत्र हो जाती। न्यूयार्क के अतिरिक्त डिट्रायट तथा बाफोला में भी

प्रचार-केन्द्र स्थापित हो चुके थे। स्वामीजी ६ दिसम्बर को न्यूयार्क में पहुँच गये। पूर्वचर्चित बोस्टन-निवासिनी महिला की सहायता से स्ट्रीट नंबर २९ में दो बड़े-बड़े कमरे किराये पर ले लिए गये। स्वामीजी शिष्यवर कृपानन्द के साथ वहाँ रहने लगे। दोनों कमरों को मिलाकर १५० के लगभग जिज्ञासु छात्र वहाँ बैठ सकते थे। स्वामीजी ने कर्मयोग के सम्बन्ध में एक व्याख्यानमाला प्रारम्भ की। इस माला के व्याख्यानों का संग्रह करके 'कर्मयोग' नामक पुस्तक प्रकाशित की गई। 'सार्वभौमिक धर्म का आदर्श' नामक प्रसिद्ध व्याख्यान भी यहीं पर और इन्हीं दिनों दिया गया था।

स्वामीजी के व्याख्यानों को लिपिबद्ध करने की इच्छा उनके शिष्यों की थी। अर्थाभाव के कारण वे किसी योग्य आशुलिपिक को अपने साथ नहीं रखते थे। इन्हीं कारणों से उनकी चर्चा और भाषणों का आद्योपान्त विवरण नहीं मिलता। बीच-बीच में स्थानीय रूप से कभी किसी को नियुक्त किया भी जाता था, परन्तु भ्रमणशील संन्यासी का अनुसरण नहीं हो पाता था। प्रभु-प्रदत्त संयोग से इंग्लैंड से इन दिनों एक योग्य आशुलिपिक श्री जे० जे० गुडविन यहाँ आए हुए थे। स्वामीजी के शिष्यों ने उनको इस कार्य के लिए नियुक्त किया और बहुत लाभान्वित हुए। श्री गुडविनजी को अपने कार्य की विवशता के कारण अधिकांश समय स्वामीजी के निकट सम्पर्क में रहना पड़ता था। परिणामस्वरूप शीघ्र ही उनका भाव-परिवर्तन हो गया और वे शिष्य बन गए। साधुचरित गुडविन की गुरु-सेवा को देखकर सभी चकित थे। वे सजग-सावधान रहकर अपना कार्य करते थे। आज स्वामी जी के व्याख्यानों के जितने संग्रह उपलब्ध हैं, उनमें से अधिकांश को लिपिबद्ध करने का श्रेय श्री गुडविन महोदय को है।

बड़े दिनों के पर्व एक्समस के उपलक्ष्य में श्रीमती ओलीबुल ने स्वामी जी को बोस्टन आमन्त्रित किया। केम्ब्रिज की महिलाओं द्वारा आमन्त्रित होकर स्वामीजी ने 'भारतीय नारी का आदर्श' विषय पर एक सारपूर्ण व्याख्यान दिया। श्रोता महिलाएँ इस व्याख्यान को सुनकर अत्यन्त प्रभावित हुईं और उन्होंने स्वामीजी की पूज्य माताजी को एक प्रशस्ति-पत्र लिखा। गोद में बालक लिये कुमारी मरियम के एक सुन्दर चित्र के साथ

यह माताजी को भेजा। उनके पत्र का आशय इस प्रकार था : आज के इस शुभ पर्व पर आपके पुत्र ने नारी के आदर्श का व्याख्यान करके हमें तथा हमारी सन्तानों को जो उपकृत किया है, उसके लिए हम आपकी आभारी हैं। विश्वबन्धुत्व की भावना का प्रसार समस्त जगत् में फैले और इस कार्य में आपके पुत्र सदा तत्पर रहें, इस स्मृति के साथ हमारी कृतज्ञता स्वीकार करें।

बोस्टन से न्यूयार्क लौटकर स्वामीजी 'हार्डी मैनहोम' में प्रत्येक रविवार को निःशुल्क व्याख्यान देने लगे। 'ब्रुकलिन मैटाफिजिकल सोसायटी' तथा 'न्यूयार्क पीपुल्स चर्च' में उनके भाषणों को सुनने के लिए बड़ी संख्या में लोग आने लगे। इसके अतिरिक्त वे प्रतिदिन जिज्ञासुओं के विविध प्रश्नों के उत्तर दिया करते थे। उनका शंका-समाधान किया करते थे। साथ ही राजयोग का साधन करनेवाले शिष्यों को भी स्वयं शिक्षा देते थे।

इन्हीं दिनों विभिन्न संस्थाओं द्वारा आमन्त्रित होकर स्वामीजी ने 'भक्तियोग', 'आत्मा व ईश्वर' तथा अन्य दार्शनिक विषयों पर भाषण दिये। स्वामीजी द्वारा बताए गए धर्मतत्त्व को हृदयंगम करके अनेक नर-नारियों ने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। डा० स्ट्रीट नामक एक श्रद्धालु शिष्य ने गृहस्थ छोड़कर संन्यास ग्रहण करने का निश्चय किया। उन्हें संन्यास-धर्म में दीक्षित करके उनका नाम योगानन्द रखा गया। उनकी शिष्य-मण्डली दिनों-दिन बढ़ती गई। इसके साथ ही प्रचार-कार्य में भी बढ़ोतरी हुई।

सन् १८९६ के पूर्वार्द्ध में दो सप्ताह के लिए स्वामीजी डिट्रायट गए। 'पाश्चात्य जगत् को भारत का सन्देश' और 'सर्वजनीन धर्म का आदर्श' ये व्याख्यान वहीं दिये गये थे। ईसाई धर्म-प्रचारकों का विरोध पूर्ववत् जारी था, पर स्वामीजी के व्याख्यानों के लिए नियत स्थान समय से पूर्व ही भर जाते थे। यहाँ भी कुछ इच्छुक व्यक्तियों को हिन्दू धर्म की दीक्षा देकर स्वामीजी डिट्रायट से बोस्टन लौट आए।

हार्वर्ड विश्वविद्यालय की ओर से श्री फाक्स ने दर्शनशास्त्र के स्नातक छात्रों के सम्मुख वेदान्त दर्शन पर व्याख्यान देने के लिए स्वामीजी को

निमन्त्रित किया। स्वामीजी ने इसे स्वीकार किया। दर्शनशास्त्र के अनेक विद्वान् अध्यापक भी भाषण सुनने आए। यह भाषण २५ मार्च को हुआ था। बाद में छात्रों के अनुरोध पर इस भाषण को प्रकाशित भी करवा दिया गया।

फिर न्यूयार्क लौटकर स्वामीजी ने वेदान्त और योग की शिक्षा के लिए एक स्थायी केन्द्र बनाने का संकल्प किया। इधर इग्लैंड से बार-बार बुलावे आने लगे। यह लगभग निश्चित-सा था कि स्वामीजी इंग्लैंड से भारत लौटेंगे। अतः विचार-विनिमय करके यहाँ वेदान्त सोसायटी की स्थापना की गई। श्री फ्रांसिस एच० लिगेट महोदय को इस सोसायटी का अध्यक्ष मनोनीत किया गया। भगिनी हरिदासी योग-शिक्षिका नियुक्त हुईं। स्वामी अभयानन्द, योगानन्द तथा कृपानन्द और कुछ ब्रह्मचारी प्रचार-कार्य के लिए नियुक्त हुए। कुमारी मेरी फिलिप, श्रीमती आर्थर स्मिथ, श्रीमती वाल्टर गुडइयर तथा गायिका कुमारी एमा थर्सबी आदि संचालन समिति का कार्य देखने लगीं। स्वामीजी ने भारत से अपने गुरुभाई स्वामी सारदानन्दजी को शीघ्र इंग्लैंड पहुँचने के लिए पत्र लिखा। इंग्लैंड से सारदानन्दजी को न्यूयार्क भेजने का वचन देकर १५ अप्रैल, १८९६ ई० को स्वामीजी ने लन्दन की ओर प्रस्थान किया।

स्वामीजी का पत्र मिलने पर स्वामी सारदानन्दजी यथासमय इंग्लैंड पहुँच गए। वे वहाँ स्टर्डी महोदय के साथ रहते हुए स्वामी विवेकानन्दजी की प्रतीक्षा करने लगे। इस बीच वे यहाँ की वेदान्त समिति में धर्मोपदेश का कार्य करते रहे।

स्वामीजी के इंग्लैंड पहुँचने पर दोनों गुरुभाई एक-दूसरे को पाकर बहुत आनन्दित हुए। स्वामीजी ने भारत-स्थित अपने गुरुभाइयों तथा रामकृष्ण-भक्तों का कुशल-मंगल जानकर सन्तोष प्रकट किया।

स्वामी विवेकानन्दजी तथा स्वामी सारदानन्दजी ने, कु० मुलर तथा श्री स्टर्डी महोदय का आतिथ्य स्वीकार करते हुए, पूरे उत्साह के साथ प्रचार-कार्य प्रारम्भ कर दिया। स्वामी विवेकानन्दजी के अमेरिका से लौट आने के कारण यहाँ की शिष्य-मण्डली में नवीन शक्ति का संचार हुआ।

उनका सत्संग-लाभ करने के लिए सभाओं में बड़ी संख्या में श्रोता आने लगे। समाचार-पत्रों में आँधी लानेवाले इस हिन्दू की फिर चर्चा होने लगी। मई मास के अन्त तक नियमित रूप से प्रश्नोत्तर-कक्षा तथा वेदान्त-योग-शिक्षा का कार्यक्रम चालू हो गया। ज्ञानयोग के सम्बन्ध में एक भाषणमाला भी प्रारम्भ हुई। इसी शृंखला में भक्तियोग, कर्मयोग और योगसाधना के सम्बन्ध में भी उन्होंने कुछ उत्कृष्ट व्याख्यान दिये थे। विभिन्न गृहस्थों, क्लबों तथा सभा-समितियों द्वारा उपदेश देने के लिए स्वामीजी को निमन्त्रण आने लगे। श्रीमती एनी बेसेन्ट द्वारा आमन्त्रित होकर स्वामीजी ने उनके भवन में 'भक्ति' पर एक व्याख्यान दिया।

विशेष रूप से आमन्त्रित होकर स्वामीजी आक्सफोर्ड गए और वेद-विद्या के आचार्य जगद्विख्यात प्राध्यापक श्री मैक्समूलर से मिले। श्री मैक्समूलर श्री रामकृष्ण परमहंस से विशेष रूप से प्रभावित थे। इस सम्बन्ध में उन्होंने पत्रिका में लेख भी लिखा था। श्री केशवचन्द ने रामकृष्ण परमहंस से प्रभावित होने के कारण अपने विचारों में यथेष्ट परिवर्तन किया था और इसकी जानकारी श्री मैक्समूलर को थी। इस घटना से श्री मैक्समूलर का और भी अधिक ध्यान श्री परमहंसजी की ओर हुआ। उन्होंने परमहंस के जीवन और उपदेशों के सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखने का विचार प्रकट किया और स्वामी विवेकानन्दजी से एतदर्थ सामग्री एकत्र करने में सहायता माँगी। इस कार्य में स्वामीजी ने सहयोग दिया और श्री मैक्समूलर महोदय ने शीघ्र ही एक पुस्तक लिखकर प्रकाशित कर दी। इस पुस्तक के प्रकाशित होने से स्वामी विवेकानन्दजी को अपने प्रचार-कार्य में बहुत लाभ हुआ, क्योंकि उनके गुरुदेव और वेदान्त के सम्बन्ध में इस पुस्तक में पर्याप्त जानकारी थी और इसके लेखक पूर्व-पश्चिम सर्वत्र अपनी विद्वत्ता के लिए विख्यात थे। श्री मैक्समूलर के साथ स्वामीजी की धर्म-दर्शन के सम्बन्ध में चर्चा होती रही। श्री मैक्समूलर स्वामीजी तथा उनके आतिथेय श्री स्टर्डी महोदय के साथ नगर-भ्रमण के लिए निकले। उन्होंने आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय तथा पुस्तकालय भी देखा। श्री मैक्समूलर के भारत-विद्या-सम्बन्धी ज्ञान को देखकर स्वामी विवेकानन्दजी चकित रह

गए। बातों ही बातों में स्वामीजी ने पूछा, "आप कब भारत आ रहे हैं? आपने भारतीय चिन्तनधारा को जिस श्रद्धा भाव के साथ शिक्षित जगत् के सामने रखा है, उसके लिए हम आपके सदा कृतज्ञ रहेंगे। भारतवासी आपको अपने बीच पाकर अपने को कृतकृत्य मानेंगे।" स्वामीजी के हार्दिक उद्गारों को सुनकर श्री मैक्समूलर की आँखों में प्रेमाश्रु छलकने लगे। उन्होंने कहा, "मैं भारत अवश्य आऊँगा। पर संभव है, मैं वहाँ जाकर फिर वापस न आऊँ। मेरा अन्तिम संस्कार आप लोगों को वहीं पर करना पड़ेगा।"

रात के समय वहाँ से प्रस्थान करने के लिए जब स्वामीजी स्टेशन पर गाड़ी की प्रतीक्षा कर रहे थे तो श्री मैक्समूलर आँधी-पानी के बावजूद उन्हें विदा करने स्टेशन पर पहुँचे। इन वयोवृद्ध को देखकर स्वामीजी संकोचवश बोले, "आपने इस आँधी-पानी में रात के समय यहाँ आने का कष्ट क्यों किया? इसकी क्या आवश्यकता थी?" इस पर वे बोले, "श्री रामकृष्ण परमहंस के श्रेष्ठ शिष्य के दर्शनों का सौभाग्य बार-बार कहाँ मिलता है।" इसके बाद युवा संन्यासी और वयोवृद्ध आचार्य में मैत्री-भाव बना रहा और पत्राचार के माध्यम से दोनों एक-दूसरे से सम्पर्क बनाए रहे।

इस बार की इंग्लैण्ड की यात्रा में कैप्टन सेवियर और श्रीमती सेवियर ने स्वामीजी का शिष्यत्व ग्रहण किया। ये धर्मप्राण दम्पति उनके महान् कार्य के लिए जीवनदान करने के लिए प्रस्तुत थे। श्रीमती सेवियर यद्यपि स्वामीजी की शिष्या थीं तो भी स्वामीजी उनका मातातुल्य आदर करते थे और 'माँ' कहकर ही पुकारते थे।

स्वामीजी अत्यधिक व्यस्त रहने के कारण कुछ दिन विश्राम करने की आवश्यकता अनुभव कर रहे थे। इन्हीं दिनों सेवियर दम्पति और कुमारी मुलर ने स्वामीजी के साथ स्विट्जरलैंड का भ्रमण करने का प्रस्ताव रखा। स्वामीजी ने भी सहमति प्रकट की। जुलाई मास के चौथे सप्ताह में स्वामीजी ने शिष्यों और मित्रों सहित लन्दन से प्रस्थान किया और जेनेवा आ पहुँचे। इन दिनों यहाँ एक प्रदर्शनी हो रही थी। स्वामी

जी ने प्रदर्शनी देखी और एक बैलून में बैठकर आकाश की सैर की। यहाँ पूरी मण्डली का एक फोटो भी लिया गया। यहाँ से कैसल ऑफ चिलों और वहाँ से माउण्ट ब्लैंक की यात्रा की। स्विट्जरलैंड पर्वतांचलों में सुशोभित झीलों-सरोवरों, हरे-भरे वृक्षों और मनोरम प्राकृतिक दृश्यों को देखते हुए स्वामीजी को हिमालय की उपत्यका का स्मरण हो आया। उन के मन में हिमालय के निकटवर्ती किसी अरण्य में कुटीर बनाकर संसार के कोलाहल से दूर एकान्तवास करने की सोयी इच्छा जाग उठी। उन्होंने अपने सहकारियों से हिमालय के तपोवनों का मनोहारी चित्र वर्णन करते हुए अपनी मनोकामना प्रकट की। उन्होंने कहा, "मेरी हार्दिक इच्छा है कि हिमालय में एक आश्रम स्थापित करके शेष जीवन तप और ध्यान-धारण में व्यतीत करूं। आश्रम में देशी-विदेशी सभी शिष्य एकसाथ रहकर कर्मयोग में दीक्षित होंगे और प्रथम दल पश्चिम में वेदान्त का प्रचार करेगा, दूसरा दल भारत को अपना कार्यक्षेत्र बनाएगा।"

सभी सहयोगियों ने इसका अनुमोदन किया। आल्प्स पर्वत के शिखर पर बैठकर स्वामीजी ने शिष्यों सहित जो संकल्प किया था, वह बाद में ईश्वर-कृपा से कार्यरूप में परिणत हुआ।

कुछ अन्य दर्शनीय स्थानों का भ्रमण करके सारा दल दो सप्ताहों के लिए एक पहाड़ी गाँव में जा ठहरा। चारों ओर बर्फ से ढकी पहाड़ियों से घिरे इस गाँव में स्वामीजी की वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो उठीं। इन दिनों जागतिक कार्यकलाप की ओर उनका कोई ध्यान नहीं था। ज्यादा बोलने-चालने में भी उनकी रुचि नहीं थी। शिष्यों ने उनकी इस मानसिक स्थिति को देखकर उन्हें पूर्ण एकान्त की सुविधा दे दी। वे अधिकांश समय ध्यान में मग्न रहते। इस पूर्ण विश्राम और ध्यान-धारण से उनमें एक नई स्फूर्ति का जन्म हुआ और सारी क्लान्ति दूर हो गई।

जर्मनी के कील नगर के विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के प्रधानाध्यापक पॉल डॉयसन ने स्वामीजी को आमन्त्रित करने के लिए एक पत्र भेजा। वह पत्र लन्दन के पते पर भेजा गया था। वहाँ से यहाँ पहुँचा था। स्वामीजी ने इस निमन्त्रण को स्वीकार कर लिया। मार्ग में पड़ने वाले

ऐतिहासिक स्थानों को देखते हुए वे कील नगर पहुँचे। प्राध्यापक डॉयसन ने उन्हें अपने घर पर आमंत्रित किया और वेद, उपनिषद् तथा वेदान्त के सम्बन्ध में अपने श्रद्धापूर्ण उद्गार व्यक्त किए। ये प्राध्यापक मानते थे कि उपर्युक्त ग्रंथ सर्वश्रेष्ठ मानवीय प्रतिभा का निदर्शन करने वाले तथा देवतुल्य मानव की प्रतिभा का निर्माण करने वाले हैं। वे इन्हें उच्चतर नैतिक जीवन के उपदेष्टा ग्रंथ भी मानते थे। उन्होंने स्वरचित एक ग्रंथ के कुछ अंश भी स्वामीजी को दिखाए। रॉयल एशियाटिक सोसायटी की बम्बई शाखा में १८८३ ई० को प्राध्यापक डॉयसन ने वेदान्त के सम्बन्ध में जो कुछ कहा था, उसकी अन्तिम पंक्तियाँ उन्होंने स्वामीजी को पढ़कर सुनाई। उसका भाव यही था कि वेदान्तदर्शन पवित्र नीतियों की सुदृढ़ आधारभूमि है और जीवन तथा मृत्यु के दुःखसमूह के लिए परम सान्त्वना का स्थल है। हे भारतवासी! इसे कभी न भूलना।" प्राध्यापक डॉयसन की जिज्ञासा पर स्वामीजी ने उपनिषदों के कुछ गूढ़ मन्त्रों की व्याख्या बताई। उसी दिन डॉयसन महोदय की पुत्री का जन्मदिन था। अतः उन्होंने दोपहर का भोजन वहीं करने का स्वामीजी से अनुरोध किया। डॉयसन तथा उनकी पत्नी अपनी भारत-यात्रा के संस्मरण सुनाने लगे। दोनों में कुछ ही घंटों में गहरी आत्मीयता स्थापित हो गई।

ज्ञानचर्चा होती रही। श्री डॉयसन कुछ देर के लिए उठकर बाहर गए। वहाँ पड़ी एक पुस्तक को उठाकर इसी बीच स्वामीजी पढ़ने लगे। श्री डॉयसन लौट भी आए, पर पुस्तक में दत्तचित्त स्वामीजी को पता न लगा। कुछ देर बाद जब उन्होंने पुस्तक रख दी तो देखा कि श्री डॉयसन बैठे उनकी ओर देख रहे हैं। स्वामीजी ने उनसे इस बात के लिए क्षमा माँगी कि पुस्तक में मग्न होने के कारण उन्हें उनके आने का पता नहीं लगा। श्री डॉयसन को उनके इस प्रकार पुस्तक में मग्न होने पर कुछ सन्देह-सा हुआ। यद्यपि उन्होंने यह कहा नहीं, तथापि उनके चेहरे पर इसी प्रकार के भाव दिखाई दे रहे थे। स्वामीजी ने वार्तालाप के मध्य इस पुस्तक के अंशों के उद्धरण देने प्रारम्भ कर दिये। श्री डॉयसन एकदम चमत्कृत हो उठे और बोले, "निश्चय ही इससे पूर्व आपने यह पुस्तक भली प्रकार पढ़ी

होगी अन्यथा चार सौ पृष्ठों की इस पुस्तक को कुछ मिनटों में पढ़ना और फिर उसका पाठ ज्यों का त्यों उद्धृत करके सुना देना न केवल कठिन है, अपितु असम्भव है।" स्वामीजी मन्द स्मित के साथ बोले, "इसमें असंभव कुछ नहीं है। मनःसंयम कर लेने पर कोई भी इस कार्य को कर सकता है। अखण्ड ब्रह्मचर्य के फलस्वरूप शतावधान की शक्ति प्राप्त हो जाती है। पश्चिम सम्भवतः इस पर विश्वास न करे, किन्तु भारत में कम होने पर भी इस शक्ति से सम्पन्न लोगों का अभाव नहीं है।"

स्वामीजी सदा ही अखण्ड ब्रह्मचर्य के पालन में अपने गुरुभाइयों और शिष्यों को प्रवृत्त रखते थे। स्वयं भी पूर्ण जागरूक रहकर वे ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते थे। उनका कहना था कि शरीर और मन की उच्चतम शक्तियों के विकास के लिए ब्रह्मचर्य-विद्युत्-शक्ति का प्रवाह नस-नस में प्रवाहित होना चाहिए। एकान्तवास, इन्द्रियसंयम और चित्त की एकाग्रता—इन तीनों के सम्मेलन से गठित छात्र-जीवन ही ब्रह्मचर्य का आदर्श है। तरुण छात्रों को वे ब्रह्मचर्य के लाभों का ब्यौरा बताते हुए दृढ़तापूर्वक कहा करते थे, "यदि तुम मनोयोगपूर्वक ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करो तो तुम्हारी सोयी शक्तियाँ जाग्रत् हो उठेंगी और सभी प्रकार की उन्नति का मार्ग प्रशस्त हो जाएगा। तुम शुद्ध बुद्धि से जिस कार्य को करना चाहोगे, उसके मार्ग की बाधाएँ स्वतः दूर हो जाएँगी।"

धर्म-कार्य के लिए अथवा किसी अन्य महान् आदर्श से अनुप्राणित होकर अविवाहित जीवन बिताने वालों का स्वामीजी बड़े आदरभाव से देखते थे, पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि गृहस्थाश्रम को वे निन्दनीय समझते थे। हाँ, वे उनके विरोधी अवश्य थे जो यह मानते थे कि प्राकृत ढंग का जीवन बिताना ही उचित है और विवाह आवश्यक है। विवाह और सन्तानोत्पत्ति करना ही मानव-जीवन का परम धर्म है, ऐसा वे कदापि मानने को तैयार नहीं थे। विशेष रूप से जिन्होंने कोई उच्चतर कार्य करने का संकल्प किया हो, उनके लिए तो विवाह न केवल अनावश्यक अपितु त्याज्य भी है, ऐसा उनका मत था। उनका अभिमत था कि मानव-समाज को आदर्श गृहस्थ और आदर्श संन्यासी दोनों की आवश्यकता है। मोक्ष पर केवल

संन्यासियों का ही एकाधिकार नहीं है। परन्तु जो लोग विदेह राजर्षि जनक का उदाहरण देकर वैसा बनने की चेष्टा करते हैं, वे प्रायः कुछ सन्तानों के जनक बनकर ही रह जाते हैं। विवाह ! विवाह ! ! विवाह ! ! ! जैसे इनके ऊपर केवल पितृ-ऋण ही है, जिससे ये मुक्त हो जाना चाहते हैं। ऋषि-ऋण को इन्होंने बट्टेखाते में डाल रखा है। यद्यपि सभी आश्रम गृहस्थाश्रम पर आधारित हैं, फिर भी इस समय उसकी इतनी आवश्यकता नहीं है। वह बन्धन बन गया है। वह युवकों को पंगु बनाए दे रहा है। मुझे ऐसे युवक चाहिए जो इन्द्रियों की क्षुद्र मांग से ऊपर उठ गये हों। जिनकी पेशियाँ लोहे की और स्नायु इस्पात के हों और उनके शरीर के भीतर वज्र जैसा कठोर मन हो, बल-पौरुष से युक्त। ब्रह्मतेज और क्षात्रबल को एकसाथ धारण करने वाले। तभी कुछ हो सकेगा। बाल-बच्चों के उदर-पोषण की चिन्ता से म्लानमुख वाले क्या कर सकेंगे। विवाह की बलिवेदी पर कितने ही तरुणों की हत्या हो रही है।

लन्दन लौटने का स्वामीजी का विचार जानकर श्री डॉयसन भी कुछ दिन और उनका सत्संग-लाभ करने के विचार से उनके साथ लन्दन तक चलने के लिए तैयार हो गए। जून मास के अन्त तक श्री सारदानन्द जी को विवेकानन्दजी ने अमेरिका भेज दिया। लन्दन का कार्य देखने के लिए भारत से श्री अभेदानन्दजी आकर सहायता करने लगे। वे अभेदानन्द जी को अपनी अनुपस्थिति में सारा कार्य सँभालने के लिए उपयोगी शिक्षा देने लगे। अक्तूबर-नवम्बर मास में स्वामीजी ने अद्वैतवाद के सिद्धान्तों पर कुछ विवेचनात्मक व्याख्यान दिए। अमेरिका तथा इंग्लैण्ड में प्रचार-कार्य की समुचित व्यवस्था देखकर स्वामीजी भारत लौटने की तैयारी करने लगे। इसकी सूचना जब श्रीमती ओलीबुल को मिली तो उन्होंने स्वामीजी से पत्र द्वारा निवेदन किया कि वह भारतीय कार्य के लिए आवश्यकतानुसार धन देने के लिए तैयार हैं। उन्होंने रामकृष्ण मठ के संन्यासियों के लिए एक स्थायी मठ के निर्माण की योजना में विशेष रूप से सहयोग देने की इच्छा व्यक्त की। इस पत्र को पाकर स्वामीजी सन्तुष्ट हुए। स्वामी जी ने मद्रास, कलकत्ता तथा हिमालय में केन्द्रों की स्थापना करके ही कार्य

का प्रारम्भ करना उचित समझा। श्रीमती बुल के पत्र के उत्तर में उन्होंने लिख दिया कि भारत जाकर विस्तारपूर्वक लिखूँगा। इस समय, इस कार्य के लिए धन की आवश्यकता नहीं है।

इंग्लैंड स्थित मित्रों और शिष्यों ने, यह जानकर कि दिसम्बर मास के उत्तरार्द्ध में स्वामीजी स्वदेश लौट रहे हैं, विदाई और अभिनन्दन-समारोह करने का आयोजन किया। १३ दिसम्बर को रॉयल सोसायटी आफ पेन्टर्स के पिकाडेली के विशाल सभाकक्ष में एक सभा की। इस भावभीनी विदाई के अवसर पर शतशः आँखें गीली और गले रुद्ध थे। स्वामीजी जन-जन के इस भावातिरेक को देखकर स्वयं करुणा-कातर हो उठे। उन्होंने इसी कातर भावातिशयता में कहा, "सम्भव है कि मैं कल्याणकर समझकर इस देह-बन्धन को छिन्न कर दूँ—इसे जीर्ण-शीर्ण वस्त्र की तरह त्याग दूँ। परन्तु जब तक जगत् का प्रत्येक व्यक्ति उच्चतम सत्य की उपलब्धि न कर सकेगा, तब तक मैं मानव-जाति के कल्याण की कामना से धर्म का प्रचार बन्द नहीं करूँगा।"

स्वामीजी को प्रति सप्ताह बारह-चौदह और कभी-कभी इससे भी अधिक भाषण देने पड़ते थे। कभी-कभी स्वामीजी यह नहीं सोच पाते थे कि अब अपने भाषण में कौन-सी नई बात बताएँ, क्योंकि उन्हें इतनी बार व्याख्यान करना पड़ा था कि सब कथनीय कह चुके थे। परन्तु जो सागर-तल पर पाँव-पयादे चलते हुए अपने पीछे-पीछे आने का उन्हें संकेत कर रहे थे, वे ही गुरुदेव उनके लिए सब उपादान जुटा देते थे। वे निरन्तर यह अनुभव करते थे कि कोई शक्ति उनका संचालन कर रही है और उन्हें शक्ति भी प्रदान कर रही है। स्वामीजी ने स्वयं कहा था कि कई बार रात्रि में दूसरे दिन दिया जानेवाला भाषण कोई अक्षरशः उन्हें सुना रहा है। वे अपने को ध्वनिवाहक यंत्र जैसा ही समझते थे।

स्वामीजी में यद्यपि अनेक गुण थे, तो भी मानव-मात्र के लिए उनका निश्छल प्रेम और सत्य के प्रति निष्ठा के साथ ही दुर्बलों और उपेक्षितों के प्रति विशेष सहानुभूति का भाव लोगों को उनकी ओर खींच लाता था। वे मानव-मात्र की कल्याण-कामना करने वाले विश्व-मानव थे। भगिनी

निवेदिता ने एक बार कहा था, "सत्य व प्रेम की अमोघ शक्ति ने ही उन्हें जनप्रिय बनाया था।" इसी प्रकार बंगाल के प्रसिद्ध नाटककार गिरीशचन्द्र घोष ने कहा था, "मैं उनकी प्रतिभा या पाण्डित्य के कारण नहीं मानता, सदा करुणाकातर उनके हृदय के लिए ही उन्हें प्यार करता हूँ।" और एक बार स्वामीजी ने स्वयं एक शिष्य को पत्र में लिखा था, "मैं धीरे-धीरे एक ऐसी स्थिति में पहुँच रहा हूँ, जहाँ यदि 'शैतान' नाम का कोई हो भी, तो उसे भी मैं प्यार कर सकता हूँ।

"यौवनारंभ में मैं बहुत हठी और कट्टर था। सिनेमा में लगे अश्लील पोस्टरों के कारण उनके आगे की पटरी तक पर नहीं चलता था।...पर अब वेश्या की निन्दा करने की बात भी नहीं सोच सकता। ...मैं वास्तव में देख रहा हूँ, बुराई के नाम से हम जो समझते हैं, वह भ्रान्ति मात्र है।"

पतित नारियों के प्रति उनके बचपन का संस्कार किस प्रकार बदला, इसकी भी एक कहानी है, जिसे स्वामीजी स्वयं सुनाया करते थे। अमेरिका आने से पूर्व स्वामीजी खेतरी से जयपुर आए थे। खेतरी के महाराज उन्हें विदा करने के लिए जयपुर तक साथ आए थे। एक दिन सांध्यवेला में महाराज ने एक नर्तकी को अपने यहाँ बुलाया। इस नृत्य-गायन के आयोजन में सम्मिलित होने के लिए उन्होंने स्वामीजी को भी कहा, पर उन्होंने यह कहकर सम्मिलित होना अस्वीकार कर दिया कि नर्तकी के नृत्य-गायन में संन्यासी का उपस्थित रहना अनुचित है। जब नर्तकी को इसका पता लगा तो दुःख से उसका हृदय कराह उठा। वह सोचने लगी कि क्या वह इतनी घृणित है कि गुरुजी उसकी उपस्थिति में कमरे में भी नहीं बैठ सकते। उसका नारी-सुलभ अभिमान जाग उठा। उसने वेदना-भरे स्वर में भक्त सूरदास का भक्ति-गीत गाया—

प्रभु मोरे अवगुण चित न धरो।
समदरसी है नाम तिहारो, चाहो तो पार करो...

भजन के बोल साथ लगे कमरे में बैठे संन्यासी के कानों में पड़ते हैं—

'एक लोहा पूजा में राखत
इक घर बधिक परो
पारस गुन-अवगुन नहीं चितवत
कांचन करत खरो। प्रभु मोरे···
इक नदिया एक नार कहावत
मैलो ही नीर भरो
जब मिली दोनों एक बरन भए
सुरसरि नाम परो
यह माया ब्रह्मजाल कहावत
सूरदास सगरो
अबकी बार मोहि पार उतारो,
नहिं प्रन जातु टरो।'

उस नृत्यांगना के सधे स्वर और आन्तरिकता से गाया हुआ सूरदास का यह भजन स्वामी विवेकानन्द की हृत्तंत्री को झंकृत करने लगा। गणिका की वेदना से स्वामीजी व्याकुल हो उठे। बाद में स्वामीजी ने उस गणिका से क्षमा-याचना की थी।

एक बार किन्हीं महाशय ने दक्षिणेश्वर के महोत्सव में वेश्याओं के जाने पर आपत्ति की थी, तब श्री विवेकानन्दजी ने स्पष्ट उत्तर दिया था, "वेश्याएँ यदि दक्षिणेश्वर के तीर्थ में न जा सकें तो कहाँ जाएँगी ? पतितों के लिए प्रभु विशेष अनुग्रहवान हैं। पुण्यात्माओं के लिए उतने नहीं।

"जो लोग देवालय में जाकर भी 'यह वेश्या है, यह नीच जाति है, यह निर्धन है और यह छोटा आदमी है' इस प्रकार सोचते हैं, उनकी संख्या जितनी कम हो जाए, समाज का उतना ही कल्याण होगा। जो लोग शरणागत की जाति, लिंग और अवस्था-व्यवसाय देखते हैं, वे श्री रामकृष्ण देव को क्या समझेंगे ! मैं तो प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि शत-शत वेश्याएँ आएँ उनके चरणों पर शीश झुकाने के लिए, बल्कि एक भी भद्र पुरुष न आए तो न आए, वेश्याएँ आएँ, शराबी आएँ, चोर-डाकू आएँ, उनका द्वार खुला है।"

० ० ०

१६ दिसम्बर को स्वामीजी लन्दन से विदा होकर चल दिये। सेवियर दम्पति उनके साथ थे। श्री गुडविन ने नेपल्स में स्वामीजी के साथ मिलने के लिए साउथम्पटन से इटली के लिए यात्रा की। ध्वान्तनिवारक वेदान्त से दिग्विजय करने वाले आचार्यश्री के जीवन का एक महिमाशाली चरण पूरा हुआ। फ्रांस के बीच से होकर, आल्प्स पर्वतमाला को लाँघकर मिलान तथा पीसा नगरी के दर्शन करते हुए फ्लोरेंस पहुँचे। इटली में शिल्प और स्थापत्य के एक से एक बढ़े-चढ़े रूपों को देखकर वे एक उद्यान में टहल रहे थे कि संयोगवशात् शिकागो के श्रीमान् व श्रीमती हेल से उनकी भेंट हो गयी। ये वही श्रीमती हेल हैं, जिन्होंने शिकागो धर्म-सभा से पूर्व स्वामीजी को अपना अतिथि बनाया था और सहायता की थी। ये महिला स्वामीजी से पुत्रवत् स्नेह करती थीं। स्वामीजी जब कभी शिकागो गये, इन महिला ने उन्हें होटल में ठहरने नहीं दिया।

फ्लोरेंस से स्वामीजी रोम गये। सेवियर दम्पति साथ थे ही। श्रीमती सेवियर ने स्वामीजी की अमेरिकन शिष्या कुमारी मैक्लिऑड से रोम नगर के अंग्रेज समाज में विख्यात कुमारी एडवर्ड्स का पता जान लिया था। कुमारी मैक्लिऑड की भतीजी कुमारी एलबर्टा स्टार्गिस भी इन दिनों उनके साथ रोम में निवास कर रही थीं। ये दोनों महिलाएँ थोड़े दिनों बाद ही स्वामीजी की शिष्याएँ बन गईं। रोम के एक सप्ताह के प्रवास में ये महिलाएँ प्रतिदिन साथ जाकर उन्हें ऐतिहासिक स्थानों को दिखाती रहीं। यहाँ से स्वामीजी नेपल्स आये। यहाँ से विसूवियस ज्वालामुखी तथा ध्वस्त पम्पाई नगरी को देखा। साउथम्पटन से भारत जाने वाला जहाज आ पहुँचा था। उसमें श्री गुडविन को देखकर स्वामीजी आनन्दित हुए। ३० दिसम्बर को स्वामीजी ने अपने सहयोगियों सहित भारत के लिए यात्रा की। इस समय वे भारत-भूमि की वन्दना के लिए अत्यन्त लालायित थे। दुनिया के समृद्ध देशों को देखने के बाद धर्मप्राण भारत-भूमि के प्रति उनकी श्रद्धा द्विगुणित हो गयी थी और वे इस निश्चय पर पहुँचे थे कि मानव-मात्र के कल्याण का पथ एक दिन भारत ही प्रशस्त करेगा।

युगद्रष्टा विवेकानन्द

जहाज पर स्वदेश के लिए यात्रा करते समय स्वामीजी सोचने लगे कि चार वर्ष के इस विदेशवास में क्या उपलब्धि हुई ? जिस उद्देश्य को लेकर वे गये थे, वह सिद्ध हुआ या नहीं ? सम्पत्तिशाली पश्चिमी देशों से भारत के लिए सहायता प्राप्त करने का लक्ष्य सफल नहीं हुआ, इसमें सन्देह नहीं। पश्चिम वणिक्-वृत्ति से भी उनका मानस क्षुब्ध था। पर वहाँ की कर्मण्यता, उद्योगशीलता, वैज्ञानिक प्रगति और शिक्षा के प्रसार से वे प्रभावित भी हुए थे। अपने भावी कार्य की रूपरेखा भी वे बनाते रहे। उन्होंने निश्चय किया कि अब भारत को ही केन्द्र बनाकर कार्य करूँगा।

स्वामीजी के स्वदेश लौटने का समाचार भारत तथा श्रीलंका में पहले से ही पहुँच चुका था। उनके स्वागत के लिए प्रमुख नगरों में स्वागत-समारोहों की तैयारियाँ हो रही थीं। मद्रास नगर से उनके दो गुरुभाई तथा शिष्य स्वामीजी की अगवानी करने के लिए कोलम्बो पहुँच गये थे। कोलम्बो के हिन्दू नागरिक स्वामीजी के सर्वप्रथम स्वागतकर्ता होने का गौरव पाकर फूले नहीं समा रहे थे। वे बड़े उत्साह से स्वागत की तैयारी कर रहे थे। १५ जनवरी, १८९७ को वे श्रीलंका की राजधानी कोलम्बो के तट पर उतरे।

गैरिक पगड़ी द्वारा सुशोभित उनके मस्तक को देखकर हजारों कण्ठ जयघोष से निनादित हो उठे और हजारों मस्तक चरणधूलि का स्पर्श करने के लिए झुक गये। श्रीलंका के हिन्दू समाज के अग्रगण्य, भारत-भक्त मनस्वी कुमारस्वामी ने आगे बढ़कर पुष्पमाला उनके गले में पहनाई, तब स्वामी जी को पता लगा कि यह सब भीड़, यह जयघोष और किसी के लिए नहीं, उन्हीं के लिए है। दो घोड़ों वाली बग्घी पर बैठकर भव्य शोभा-यात्रा के

साथ स्वामीजी ने नगर में प्रवेश किया। सारे हाट-बाजार तोरण-पल्लवों से सुसज्जित थे। बग्घी राजपथ से होती हुई, 'दारुचीनी' नामक उद्यान के सामने, विराट सुसज्जित मण्डप के पास रुकी। स्वामीजी गाड़ी से उतरे। यहाँ फिर सहस्रों नर-नारी पूज्यपाद की पदधूलि लेने के लिए उनके चरणों पर झुक पड़े। महामना कुमारस्वामी ने अभ्यर्थनापूर्वक अभिनन्दनपत्र समर्पित किया। स्वामीजी ने अभिनन्दन के बाद अपना प्रवचन दिया और विश्राम करने चल दिये। वहाँ भी दर्शनार्थियों की भीड़ एकत्र हो गयी। दूसरे दिन, १६ जनवरी को फ्लोरल हॉल में सार्वजनिक भाषण दिया। इसका विषय था, 'पुण्यभूमि भारत'। दूसरे दिन अधिकांश समय धर्मचर्चा में बीता। तीसरे पहर स्थानीय शिवालय के दर्शनार्थ गये। सायं कुछ शास्त्रवेत्ता विद्वान् शास्त्रचर्चा के निमित्त स्वामीजी के पास आये। उनके साथ आधी रात तक विचार-विनिमय होता रहा। अगले दिन प्रातः कोलम्बो के पब्लिक हॉल में वेदान्त पर एक लम्बा भाषण दिया। १९ जनवरी को कोलम्बो से काण्डी को प्रस्थान किया और वहाँ का कार्यक्रम पूरा करके जाफना को चल दिये। मार्ग में ऐतिहासिक महत्त्व के नगर अनुराधापुरम् गये। वहाँ 'उपासना' विषय पर एक व्याख्यान दिया। बुद्धगया के बोधवृक्ष की शाखा को रोपकर बढ़ाये गये प्राचीन वटवृक्ष के नीचे इस सभा का आयोजन किया गया था। अनुराधापुरम् से स्वामीजी के गन्तव्य जाफना की दूरी १२० मील थी। स्वामीजी बैलगाड़ी द्वारा यह यात्रा कर रहे थे। रास्ते में जहाँ गाँव आ जाता, सैकड़ों हिन्दू तथा बौद्ध दर्शनार्थ खड़े मिलते। शिकागो धर्म-सभा में प्राप्त स्वामीजी की सफलता का समाचार गाँव-गाँव में फैल चुका है, यह जानकर स्वामीजी को आश्चर्य हुआ।

जब वे जाफना पहुँचे, सन्ध्या हो चुकी थी। स्वागतार्थ लोग खड़े प्रतीक्षा कर रहे थे। तोरण-पल्लवों से सज्जित, दर्शनार्थियों की पंक्तियों से घिरे हुए राजपथ पर स्वामीजी की शोभायात्रा बढ़ चली। हिन्दू कॉलेज के प्राँगण में बने सज्जित मण्डप में स्वामीजी को ले जाया गया। यहाँ विशाल जन-समुदाय ने उनका अभिनन्दन किया। स्वामीजी का प्रवचन हुआ। जनता का उत्साह दर्शनीय था। दूसरे दिन वेदान्त के सम्बन्ध में स्वामी

जी का व्याख्यान हुआ। श्रीलंका की यात्रा यहाँ पूर्ण हुई। यहाँ से उन्होंने अपने सहयोगियों और शिष्यों सहित स्टीमर पर सवार होकर भारत के लिए प्रस्थान किया।

स्वामीजी के आगमन का समाचार पाकर रामनद के राजा भास्कर वर्मा अपने दल-बलसहित पुण्यदर्शनों के लिए पाम्बन में आ पहुँचे। विराट जनसमुदाय समुद्र-तट पर आतुरता के साथ स्वामीजी की प्रतीक्षा करने लगा। यथासमय स्टीमर आ पहुँचा। स्टीमर से उतरकर स्वामीजी राजा साहब की सुसज्जित बोट पर चढ़े। पुण्यभूमि भारत पर स्वामीजी ने पदार्पण करते ही राजा भास्कर वर्मा ने दण्डवत् प्रणाम किया और स्वामीजी की चरण-धूलि को माथे पर लगाकर अपने को कृतार्थ किया। उनके साथ ही उपस्थित समस्त जनसमूह नतमस्तक हो गया। जयघोष से सारा तट चरण गूँज उठा।

समुद्र-तट पर सुंदर शामियाने के मंडप में स्वागत-समारोह का आयोजन था। पाम्बनवासियों की ओर से नागलिंगम् पिल्लै महोदय ने स्वामीजी को अभिनन्दन-पत्र भेंट किया। स्वामीजी ने उपस्थित जनता का धन्यवाद करते हुए एक संक्षिप्त-सा भाषण दिया। सभा समाप्त हुई। स्वामीजी अपने ठहरने के स्थान की ओर जाने लगे। राजाजी के आश्रम से बग्घी में जुते घोड़ों को खोल दिया गया। स्वयं राजाजी तथा अन्य जनगण उस गाड़ी को खींच कर ले जाने लगे। दूसरे दिन प्रातः स्वामीजी सेतुबन्ध श्री रामेश्वरम् के दर्शन करने गये। यहाँ भी उनके स्वागत के लिए आयोजन किया गया था। यहाँ भी स्वामीजी ने एक भाषण दिया। यहाँ स्वामीजी ने उपस्थित जनता को कहा कि 'यत्र जीव: तत्र शिव:' यह सच्ची शिवपूजा है। उस दिन स्वामीजी के आगमन के उपलक्ष्य में सैकड़ों दरिद्रनारायणों को भोजन कराया गया, वस्त्र और आर्थिक सहायता दी गयी। विदेश से लौटकर भारत-भूमि के जिस स्थान पर स्वामीजी के प्रथम चरण पड़े थे, उस स्थान पर रामनद-नरेश ने चालीस फुट ऊँचा एक स्मृति-स्तम्भ बनवा दिया।

यहाँ स्वामीजी ने रामनद की ओर यात्रा की। राजा महोदय की इच्छानुसार उनके प्रजाजनों ने स्वागत-अभिनन्दन के लिए पूरी तैयारी [illegible]

रखी थी। स्वामीजी ज्यों ही बोट से सरोवर-तट पर उतरे, राजभवन से तोपें दागी गयीं। राजरथ पर आरूढ़ स्वामीजी राजपथ पर निर्मित सुन्दर तोरण-पल्लवों से होते हुए राजप्रासाद की ओर बढ़ रहे थे। राजा महोदय तथा राज-परिवार के अन्य सदस्य पैदल उनके पीछे-पीछे चल रहे थे। विविध वाद्य-वृन्द के साथ यह शोभा-यात्रा सभास्थल पर पहुँची। वहाँ श्रद्धालुओं की भीड़ पहले से ही प्रतीक्षा कर रही थी। जयघोष से सारा आकाश गूँज रहा था। स्वागत-सभा राजाजी के भाषण के साथ प्रारम्भ हुई। राजा महोदय के भाई दिनकर वर्मा सेतुपति ने अभिनन्दन-पत्र पढ़कर सुनाया। उत्तर में स्वामीजी का भाषण हुआ। परमकुडी, मानमदुरा, मदुरा, त्रिचनापल्ली तथा तंजोर आदि नगरों में अभिनन्दित होकर स्वामीजी कुम्भकोणम् पधारे। यहाँ दो बार उनका अभिनन्दन हुआ। स्वामीजी जानते थे कि मद्रास में उनका व्यस्त कार्यक्रम रहेगा और विश्राम के लिए अवकाश नहीं मिलेगा। यह सोचकर कुम्भकोणम् में तीन दिन पूर्ण विश्राम किया।

भारतमाता के भाल को उज्ज्वल करनेवाले तपःपूत महात्मा विवेकानंद मद्रास पधार रहे हैं, यह समाचार सारे नगर और प्रदेश में फैल गया। स्वागत-समारोह की तैयारियाँ होने लगीं। न्यायमूर्ति सुब्रह्मण्य अय्यर की अध्यक्षता में स्वागत-समिति का गठन हुआ। ध्वजों, तोरण, बन्दनवार और पुष्पों से सारा नगर सज उठा। ६ फरवरी को स्वामीजी पहुँच रहे थे। दल के दल नगर-निवासी रेलवे स्टेशन को चल पड़े। गाड़ी के पहुँचते ही जयघोष से आकाश गूँज उठा। गाड़ी से उतरते ही स्वागत-समिति के सदस्यों ने पुष्पहार पहनाये। वे स्टेशन से बाहर निकलकर गाड़ी पर बैठे। न्यायमूर्ति सुब्रह्मण्य अय्यर, स्वामी निरंजनानन्द, स्वामी शिवानन्द स्वामी विवेकानन्दजी के साथ ही बैठे। गाड़ी स्वामीजी के लिए निश्चित स्थान कैसल कर्नान नामक प्रासाद की ओर बढ़ी। थोड़ी दूर बढ़ने पर उत्साही युवकों ने घोड़ों को गाड़ी से खोल दिया और स्वयं खींचने लगे। रास्ते-भर दोनों ओर से पुष्पवर्षा होती रही। अनेक जन नारियल तथा अन्य उपहार भेंट करने लगे। कई स्थानों पर माताएँ और बहनें दीप सँजोये आरती उतारने के लिए खड़ी थीं।

दूसरे दिन रविवार को स्वागत-सभा में उन्हें अभिनन्दन-पत्र भेंट किया गया। खेतरी के महाराजा द्वारा प्रेषित अभिनन्दन-पत्र समर्पित होने के बाद अनेकानेक सभा-समिति-संगठनों की ओर से विविध भाषाओं में प्रस्तुत कोई बीस अभिनन्दन-पत्र पढ़े गये। सभा-भवन के खचाखच भरे होने के कारण अनेक लोगों को बाहर ही खड़े रहना पड़ा। उनके अनुरोध पर स्वामीजी बाहर एक गाड़ी पर आ खड़े हुए ताकि सभी दर्शनाभिलाषी दर्शन-लाभ कर सकें। उन्होंने भाषण देने का प्रयत्न किया, पर जयघोष तथा कोलाहल के कारण लोगों के लिए उसे सुन पाना सम्भव न था।

दूसरे दिन विक्टोरिया हॉल में 'मेरी समर नीति' नामक प्रसिद्ध भाषण दिया। इसके बाद 'भारतीय जीवन में वेदान्त का प्रयोग', 'भारतीय महापुरुषगण', 'हमारा वर्तमान कर्तव्य' तथा 'भारत का भविष्य' शीर्षक चार भाषण दिये। यहाँ स्वामीजी से शास्त्रचर्चा करने के लिए एक दिन एक प्रसिद्ध विद्वान् आये। वेदान्त के विविध पक्षों पर चर्चा होती रही। स्वामीजी का मन्तव्य सुनकर ये विद्वान् बोले कि आपने जो यह प्रतिपादन किया कि वेदान्त के विभिन्न मत-वाद एक-दूसरे के विरोधी नहीं अपितु वेदान्त के पूर्ण सत्य तक पहुँचने के मार्ग की सीढ़ियाँ हैं, इस तथ्य का प्रतिपादन किन्हीं भी अन्य पूर्वाचार्यों ने तो किया नहीं है। वे तो इन मत-वादों को एक-दूसरे के विरोधी ही मानते हैं। इस पर स्वामीजी ने सहज भाव से उत्तर दिया "यह कार्य मेरे ही लिए नियत था।" एक बार इसी प्रकार के सन्दर्भ में उन्होंने कहा था कि वेदान्त को कोरे पुस्तक-पाण्डित्य के बल पर नहीं समझा जा सकता। यह एक जीवन-दृष्टि और जीवन-साधना है। मद्रास में स्वामीजी नौ दिन रहे। मद्रासी शिष्यों की योजना थी कि यहाँ पर एक वेदान्त-प्रचार-केन्द्र की स्थापना की जाए और स्वामीजी इस कार्य के लिए कुछ दिन और यहीं ठहरें। पर स्वामीजी ने योजना का अनुमोदन करते हुए इस कार्य के लिए किसी अन्य गुरुभाई संन्यासी को भेजने का वचन दिया।

कलकत्ता से आग्रहपूर्वक बुलावे आ रहे थे। साथ ही स्वामीजी का प्राणस्वरूप गुरुदेव रामकृष्ण परमहंस का जन्मोत्सव भी आ रहा था। अतः स्वामीजी का कलकत्ता पहुँचना अत्यन्त आवश्यक था। मद्रास के स्नेही

मित्रों और शिष्यों ने भारी हृदय से उन्हें विदाई दी। बाद में मद्रास के कार्य को चलाने के लिए उन्होंने स्वामी रामकृष्णानन्द को भेजा।

१५ फरवरी सोमवार को स्वामीजी मद्रास से जहाज पर सवार होकर कलकत्ता के लिए चले। जहाज से यात्रा करने का उनका विशेष उद्देश्य था। वे पिछले दिनों की यात्रा और उसके बाद के व्यस्त कार्यक्रम के कारण थके हुए थे। स्थल-मार्ग से यात्रा करने पर जगह-जगह स्वागत-समारोह होते और भाषण करने पड़ते। जल-मार्ग में भीड़ का सामना नहीं करना पड़ता था। महाराष्ट्र केसरी लोकमान्य बालगंगाधर तिलक का पूना पधारने का निमन्त्रण उन्हें मद्रास में ही मिल गया था। पर सम्प्रति स्वामीजी ने पूना की यात्रा स्थगित ही रखी। कलकत्तावासियों के उत्साह का ठिकाना नहीं था। वे कई दिनों से स्वागत-समारोह की तैयारी में लगे हुए थे। अब जो उन्हें पता लगा कि स्वामीजी जहाज द्वारा कलकत्ता के लिए चल पड़े हैं तो वे और भी व्यस्त हो चले।

अपनी शिष्य-मण्डली सहित स्वामीजी खिदिरपुर में जहाज से उतरे। यहाँ पर स्यालदाह जाने के लिए भक्तों ने विशेष ट्रेन की व्यवस्था कर रखी थी। गाड़ी प्रातः साढ़े सात बजे स्यालदाह स्टेशन पर जा लगी। यहाँ दर्शनार्थियों की अपार भीड़ थी। गाड़ी के रुकते ही जयघोष से सारा स्टेशन गूँज उठा। गाड़ी से उतरकर स्वामीजी ने हाथ जोड़कर उपस्थित जनता का अभिवादन किया। स्वागत-समिति के प्रमुख श्री नरेन्द्रनाथ सेन तथा उनके सहयोगी किसी तरह भीड़ में से रास्ता बनाकर स्वामीजी तक पहुँचे और श्रद्धास्वरूप पुष्पमालाएँ पहनायीं। स्टेशन से बाहर निकलकर सविवार दम्पति सहित स्वामीजी चार घोड़ों वाली बग्घी पर सवार हुए। हजारों आँखें श्रद्धा और सम्मान के साथ उनको निहार रही थीं। कलकत्ता नगरी नयी दुल्हिन की तरह सजी हुई थी। यहाँ भी युवकों ने घोड़ों को गाड़ी से खोल दिया और स्वयं खींचने लगे। पताकाओं, बन्दनवारों और तोरणों से सारा मार्ग सजा हुआ था। यह शोभायात्रा रिपन कॉलेज में पहुँची। उपस्थित गण्यमान्य व्यक्तियों से कुछ देर बातचीत करने के उपरान्त स्वामीजी पूर्व-निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार अपने गुरुभाइयों के साथ भिक्षा

ग्रहण करने के लिए बाग बाजार स्थित राय पशुपतिनाथ महोदय के भवन में गये। वहाँ से लौटकर पहले काशीपुर के श्री गोपाललाल शील के बगीचे वाले मकान में आ गए। स्वागत-समिति के अधिकारियों ने उनके साथ आये विदेशी शिष्यों के स्थायी निवास के लिए इस मकान की व्यवस्था की हुई थी।

यहाँ भी दिन-भर लोगों की भीड़ लगी रहती थी। कोई दर्शन करने आ रहा है तो कोई शास्त्रचर्चा के लिए। रात को आलम बाजार मठ में जाकर वे गुरुभाइयों के साथ भविष्य के कार्य की योजना पर विचार-विनिमय करते थे। विभिन्न नगरों से आने वाले निमन्त्रणों की भरमार थी। पर स्वामीजी का विचार सर्वप्रथम कलकत्ता में केन्द्रीय संगठन बनाने और प्रचार-प्रसार की दिशा निश्चित करने का था।

२८ फरवरी को कलकत्ता के नागरिकों की ओर से सर राजा राधाकान्त देव के शोभा बाजार स्थित प्रासाद के विशाल प्रांगण में एक अभिनन्दन-सभा का आयोजन किया गया। इस सभा में कलकत्ता के विशिष्ट नागरिक, विद्वान्, अधिकारी तथा विश्वविद्यालय के छात्र और अध्यापक उपस्थित थे। इस सभा के अध्यक्ष राजा विनयकृष्ण देव ने अभिनन्दन-पत्र का पाठ किया तथा उसे रजत-पात्र में रखकर स्वामीजी को समर्पित किया। अभिनन्दन के पश्चात् स्वामीजी का मार्मिक व्याख्यान हुआ।

दक्षिणेश्वर के काली मन्दिर में श्री रामकृष्ण परमहंस की जन्मतिथि पर उत्सव की तैयारियाँ हो रही थीं। निश्चित तिथि को स्वामीजी अपने विदेशी शिष्यों सहित वहाँ पधारे। भीड़-भड़क्के और कोलाहल के कारण प्रयत्न करने पर भी भाषण न कर सके। आज के दिन स्वामीजी खूब प्रसन्न दिखाई दे रहे थे।

कुछ दिन बाद स्टार रंगमंच से उनका एक व्याख्यान हुआ जिसका विषय था, 'वेदान्त'। इसके बाद भाषणों के कार्य से स्वामीजी कुछ उदास-से हो गये। वे जानते थे कि भाषणों से उत्पन्न उत्तेजना स्थायी नहीं होती। अब फिर वे व्यक्ति-निर्माण के महत्त्वपूर्ण कार्य में प्रवृत्त हुए। जीव में शिव को देखने के स्वामीजी के उपदेश को लेकर उनके कई गुरुभाई सहम

नहीं थे। वे परम्पराचरित संन्यास को अपना साधन मानते थे। स्वामीजी का आग्रह था कि यदि हम लोगों ने युगधर्म की उपेक्षा की, तो श्री रामकृष्ण परमहंस का अभिलषित पूरा नहीं होगा। कर्मयोग द्वारा कोटि-कोटि मानवों को ज्ञान का प्रकाश देना होगा। सेवाव्रत में दीक्षित होकर 'बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय' को मन्त्र मानना होगा। केवल अपनी मुक्ति का यत्न स्वार्थ है. इस युगधर्मानुकूल व्याख्या से बाद में अनेक गुरुभाई सहमत हो गये।

स्वामीजी की वज्र-कठोर देह भी कठोर परिश्रम से दुर्बल हो गयी, पर उन्होंने कभी इसकी परवाह न की और कार्य में लगे रहे। वे मठस्थ ब्रह्मचारियों और नवदीक्षित शिष्यों को गीता-उपनिषद्-वेदान्त की शिक्षा स्वयं देने लगे। उनके चिकित्सकों का कहना था कि स्वामीजी को पूर्ण विश्राम की आवश्यकता है। चिकित्सकों की बात मानकर स्वामीजी ने दार्जिलिंग जाकर विश्राम करने का निश्चय किया। उनके साथ सेवियर दम्पति, स्वामी ब्रह्मानन्द, श्री गिरीशचन्द्र घोष, श्री गुडविन, डा० टर्नबुल तथा मद्रासी शिष्य आलासिंगा पेरुमल, जी० जी० नरसिंहाचार्य तथा शिवरावेलु मुदालियर भी दार्जिलिंग गये। दार्जिलिंग में, बर्दवान के महाराजा ने अपना 'रोज बैंक' नामक भवन इस मण्डली के निवास के लिए दे दिया। लगभग दो मास दार्जिलिंग में रहने पर भी स्वामीजी के स्वास्थ्य में विशेष सुधार नहीं हुआ। इससे यह प्रवास अपनी व्यर्थता के कारण उनको खलने लगा और वे फिर कलकत्ता लौट गये।

आलम बाजार मठ के अनेक ब्रह्मचारी संन्यास-दीक्षा के लिए आग्रह कर रहे थे। इनमें एक ऐसा भी था, जिसका पूर्वजीवन अच्छा नहीं रहा था। इसलिए कुछ संन्यासी उसे दीक्षित करना ठीक नहीं समझते थे। पर स्वामीजी ने ऐसे लोगों को विशेष रूप से सत्पथ पर लाना ही अपना कर्तव्य बताकर सबको विधिवत् संन्यास में दीक्षित किया। आलम बाजार मठ में ब्रह्मचारी एवं संन्यासी काम करते थे। स्वामीजी की इच्छा थी कि परमहंस के सभी शिष्य, भक्त तथा श्रद्धालु संघबद्ध हों और यथासाध्य योग दें। इस विचार को कार्यरूप में परिणत करने के लिए १८९७ की १ मई को तीसरे पहर श्री बलराम के मकान पर सभी भक्त एकत्र हुए। स्वामीजी उपस्थित

महानुभावों को सम्बोधित करते हुए बोले, "मैं अपने लम्बे भ्रमण और अनुभव के आधार पर इस निश्चय पर पहुँचा हूँ कि संगठन बनाये बिना कार्य को सुचारु रूप से नहीं चलाया जा सकता। पर मेरे विचार में चुनाव-पद्धति पर संगठन बनाना कम-से-कम सामयिक परिस्थितियों में उपयुक्त नहीं होगा। जब देशवासी भली प्रकार शिक्षित हो जाएँगे और उनका दृष्टि-विस्तार होकर जब हृदय उदार हो जाएगा तब शायद वैसा कर सकना सम्भव हो। इस समय संघ का कोई एक सर्वेसर्वा संचालक होना चाहिए। सभी को इस संचालक का आदेश मान्य होगा। इस संघ का नाम हम सबके श्रद्धेय, आदर्श और आराध्य श्री रामकृष्णजी के नाम पर रखना ठीक होगा।"

इस प्रस्ताव का अनुमोदन होने पर संघ में कार्य की रूपरेखा पर विचार होने लगा। नामकरण हुआ 'रामकृष्ण मिशन'।

मानव-मात्र की शारीरिक, मानसिक एवं पारमार्थिक उन्नति करना इस मिशन का उद्देश्य निश्चित हुआ। सर्व-धर्म-समभाव इसका व्रत निश्चित हुआ।

स्वामी विवेकानन्द सर्वसम्मति से मिशन के सभापति बने। स्वामी ब्रह्मानन्द कलकत्ता केन्द्र के सभापति एवं स्वामी योगानन्द उपसभापति बने। श्री नरेन्द्रनाथ मित्र इसके मन्त्री तथा श्री शशिभूषण घोष तथा शरच्चन्द्र सरकार सहायक मन्त्री नियुक्त हुए। श्री शरच्चन्द्र चक्रवर्ती शास्त्र-पाठक के पद पर नियुक्त हुए। प्रति रविवार को सायं चार बजे श्री बलराम जी के मकान पर बैठक करने का निश्चय हुआ।

इन्हीं दिनों इंग्लैण्ड से कुमारी मूलर आ गयीं। चिकित्सकों ने फिर जलवायु-परिवर्तन करने का सुझाव दिया। इच्छा न रहते हुए भी ६ मई को कुछ शिष्यों तथा गुरुभाइयों सहित उन्होंने अलमोड़ा के लिए प्रस्थान किया।

अलमोड़ावासी स्वामीजी के आगमन का समाचार पाकर परम प्रसन्न हुए। स्वागत की तैयारियाँ होने लगीं। लोदिया नामक स्थान तक जाकर उन्होंने स्वामीजी की अगवानी की और जलूस बनाकर नगर में आये। सभा

में श्री ज्वालादत्त जोशी ने मानपत्र का पाठ किया। इसके उपरान्त स्वामी जी का व्याख्यान हुआ। सार्वभौम वेदान्त-धर्म के प्रचार-प्रसार और शिक्षा के लिए हिमालय पर एक मठ स्थापित करने का स्वामीजी का विचार था। इस विचार का प्रकाशन स्वामीजी ने इस सभा में किया।

स्थानीय व्यवसायी श्री बद्रीसहाय ने स्वामीजी के निवास के लिए अलमोड़ा से बीस मील दूर एक वाटिकायुक्त मकान का प्रबन्ध कर दिया। यहाँ के शान्त-स्वच्छ वातावरण में स्वामीजी ने अपूर्व शान्ति का अनुभव किया। श्रद्धालु भक्तों के आते रहने के कारण यद्यपि उन्हें विश्राम नहीं मिलता था फिर भी पन्द्रह ही दिनों में उनके स्वास्थ्य में पर्याप्त सुधार दिखाई देने लगा। धीरे-धीरे दिन बीतने लगे। स्वास्थ्य में सुधार होता रहा। पंजाब तथा कश्मीर के विभिन्न नगरों से निमन्त्रण आ रहे थे। अतः अलमोड़ा में ढाई मास बिताने के बाद स्वामीजी नीचे उतर पड़े। ९ अगस्त को वे बरेली पधारे। यहाँ पहुँचते ही वे ज्वरग्रस्त हो गये। दूसरे दिन वे आर्य अनाथालय के बच्चों को देखने गये। यहाँ के छात्रों द्वारा वेदान्त के आदर्शों को मूर्तरूप देने के लिए उन्होंने एक छात्र-समिति बनवाई। १२ अगस्त को फिर ज्वर हो गया पर उसी दशा में बरेली से अम्बाला के लिए चल पड़े। एक सप्ताह अम्बाला में रहे। यहाँ से अमृतसर और वहाँ से रावलपिण्डी की यात्रा की। फिर वहाँ से मरी, बारामूला होकर आठ सितम्बर को नौका द्वारा श्रीनगर की यात्रा की। श्रीनगर के प्रधान न्याय-मूर्ति श्री मुखोपाध्याय आग्रह के साथ उन्हें अपने घर ले गये और उचित सेवा करने लगे। कश्मीर की जलवायु उनके स्वास्थ्य के अनुकूल पड़ी। १४ सितम्बर दोपहर बाद स्वामीजी राजभवन में पधारे। राजा श्री राम-सिंहजी ने भक्तिभावपूर्वक स्वामीजी का सत्कार किया।

स्वामीजी के स्वास्थ्य-लाभ के लिए कुछ लोगों ने नौकागृह में वास करने का सुझाव दिया। उसकी व्यवस्था राज्य के वजीर महोदय ने तुरन्त कर दी। उस दिन से वे नौकागृह में रहने लगे। साथ ही कश्मीर के ऐतिहासिक महत्त्व के स्थानों और भग्नावशेषों को भी देखने लगे। १२ अक्तूबर को वे मरी चले गये। १४ अक्तूबर को वहाँ के हिन्दुओं ने

स्वामीजी को अभिनन्दन-पत्र प्रस्तुत किया। १६ अक्तूबर को रावलपिण्डी आये। यहाँ वे श्री हंसराज वकील के पास रहे। १७ अक्तूबर को हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में और १९ अक्तूबर को कालीबाड़ी की एक छोटी-सी सभा में 'स्वदेश का वास्तविक कल्याण कैसे हो?' विषय पर भाषण दिया। यहाँ से महाराज कश्मीर के निमन्त्रण पर २० अक्तूबर को जम्मू की ओर चले गये। जम्मू में महाराजा से उनकी लम्बी वार्ता हुई। एक व्याख्यान भी हुआ। महाराजा के आग्रह पर उन्होंने कुछ दिन वहाँ रुकना स्वीकार कर लिया और २९ अक्तूबर को विदा लेकर स्यालकोट पहुँचे। यहाँ उनके दो भाषण हुए। उत्तर भारत में उनके अधिकांश व्याख्यान हिन्दी में ही हुए थे। स्यालकोट में स्त्री-शिक्षा की समुचित व्यवस्था न देखकर स्वामीजी ने एक कन्या विद्यालय की स्थापना का विचार प्रकट किया। तदनुसार स्वामीजी के भक्त श्री मूलचन्द एम० ए०, एल-एल० बी० ने एतदर्थ एक कमेटी बनाई और स्वयं उसके मन्त्री बने। यहाँ से ५ नवम्बर को स्वामीजी लाहौर आ गये। वहाँ सनातन धर्म-सभा ने उनकी अगवानी की और स्वागत-सत्कार किया। 'ट्रिब्यून' अंग्रेजी दैनिक के सम्पादक श्री नरेन्द्रनाथ गुप्त आग्रहपूर्वक उन्हें अपने घर ले गये। लाहौर में स्वामीजी ने विभिन्न विषयों पर तीन भाषण किये। पंजाब और विशेष रूप से लाहौर में आकर स्वामीजी महर्षि दयानन्द के द्वारा प्रवर्तित आर्यसमाज के कार्य से विशेष रूप से परिचित हुए। यहाँ आर्यसमाज के नेताओं की दृष्टि भी उनकी ओर आकृष्ट हुई। आपस में खूब विचार-विनिमय होता रहा। यद्यपि स्वामीजी के मन्तव्य और आर्यसमाज में कुछ मत-भिन्नता थी, फिर भी आर्य-सदस्यों के चरित्र, त्याग और लोक-सेवा के व्रत के स्वामीजी प्रशंसक थे। हाँ, उनके कट्टरपन का वे स्पष्ट रूप से प्रतिवाद करते थे।

लाहौर में स्वामीजी का परिचय गणित के प्राध्यापक तीर्थराम गोस्वामी से हुआ। श्री तीर्थराम जी ने एक दिन शिष्यों सहित स्वामीजी को भोजन के लिए निमन्त्रित किया। तभी वेदान्त-चर्चा का भी सुयोग उपस्थित हुआ। स्वामीजी ने देख लिया, ये प्राध्यापक वेदान्त के प्रचार में महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकते हैं। स्वामीजी की प्रेरणा से श्री तीर्थरामजी का भाव-परिवर्तन

हो गया और वे वेदान्त के लिए अपना जीवन अर्पण करने को प्रस्तुत हो गये। विदा के समय श्री तीर्थरामजी ने स्वामीजी को अपनी बहुमूल्य सोने की घड़ी भेंट की। स्वामीजी ने उसे स्वीकार कर उनकी जेब में रखते हुए उदान्त की भाषा में कहा, "मित्र, इस घड़ी का उपयोग मैं इसे जेब में ही रखकर करूँगा।" इसके कुछ ही दिनों बाद श्री तीर्थरामजी ने प्राध्यापक-पद से त्याग-पत्र दे दिया और संन्यासी का जीवन स्वीकार किया। यही प्रोफेसर महोदय आगे चलकर स्वामी रामतीर्थ नाम से जगद्विख्यात हुए। वे अनेक देशों में घूमे और वेदान्त का प्रचार किया। यह सौम्य संत कुछ वर्षों बाद ही देहबन्धन से मुक्त हो गये। स्वामीजी की ही प्रेरणा से आर्य-समाज के कर्मठ संन्यासी स्वामी अच्युतानन्द, प्रकाशानन्द तथा कुछ अन्य धर्म-प्रचारक संन्यासी उत्साहपूर्वक वेदान्त-प्रचार के कार्य में तत्परता से जुट गये।

स्वामीजी फिर अस्वस्थ हो गये, इसलिए विश्राम करने देहरादून चले आये, पर उन्हें विश्राम मिल नहीं सका। वे प्रतिदिन शिष्यों को वेदान्त और सांख्य दर्शन पढ़ाते। आने-जाने वालों का ताँता अलग लगा रहता। देहरादून में खेतरी राज्य से निमन्त्रण पर निमन्त्रण आने लगे। वहाँ जाने के लिए सहारनपुर होकर दिल्ली पधारे। यहाँ चार दिन ठहरे, फिर अलवर को चल दिये। अलवर से जयपुर और वहाँ से खेतरी के लिए यात्रा की। राजा साहब ने खेतरी से बारह मील आगे बढ़कर स्वामीजी का राजोचित समारोहपूर्वक सम्मान किया। सारा नगर इस उपलक्ष्य में आयोजित आमोद-प्रमोद के कार्यक्रमों में व्यस्त रहा। रात को आतिश-बाजी हुई। निर्धनों और भिखारियों में भोजन बाँटा गया। स्वागत-समारोह में अभिनन्दन-पत्र पढ़ा गया और स्वामीजी का भाषण हुआ। यहाँ कुछ दिन रहकर वे किशनगढ़, अजमेर, जोधपुर तथा इन्दौर होकर खण्डवा पहुँचे। यहाँ फिर स्वास्थ्य खराब हो गया। इसलिए अन्यत्र जाने का कार्यक्रम बीच में छोड़कर वे कलकत्ता लौट गये। यह १८९९ ई० के जनवरी मास का मध्य था। भागीरथी के तट पर एक स्थायी मठ बनाने का उनका विचार था। इसके लिए उपयुक्त स्थान की खोज कई दिनों से

हो रही थी। भागीरथी के पश्चिमी तट पर बेलूड़ गाँव में स्थान का पता लगा। सबको यह स्थान उपयुक्त लगा और यह भूमि खरीद ली गयी। इसको खरीदने के लिए धन शिष्या कुमारी हेनरिटा मूलर ने दिया था। इससे पूर्व यह स्थान नौकाघाट के काम आता था। इस स्थान को समतल बनाकर मठ का निर्माण करने में एक वर्ष लग गया। श्रीमती ओलीबुल ने 'ठाकुर घर' के निर्माण का सारा खर्च देने के अतिरिक्त मठ का खर्च चलाने के लिए बेलूड़ मठ के संचालकों को एक लाख रुपये से भी कुछ अधिक नकद दिया। इस प्रकार एक महान् संकल्प साकार हुआ। उत्तर हिमालय में मठ-स्थापना के लिए सेविअर दम्पति उपयुक्त स्थान की खोज कर रहे थे। बेलूड़ मठ का निर्माण-कार्य प्रारम्भ होने के साथ ही मठ को आलम बाजार से बेलूड़ गाँव में, नीलाम्बर मुखोपाध्याय के बगीचे वाले मकान में स्थानान्तरित कर दिया गया। स्वामीजी शिष्यों और गुरुभाइयों सहित वहाँ आकर रहने लगे। इससे नये बन रहे मठ की देखभाल करने में सुविधा हो गयी।

इन्हीं दिनों श्री स्वामी सारदानन्दजी अमेरिका से कार्यवश मठ लौट आये। श्री स्वामी शिवानन्दजी भी एक वर्ष के लगभग श्रीलंका में प्रचार करने के पश्चात् मठ में आ गये। श्री स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी दीनाजपुर में दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायतार्थ गये हुए थे। उस कार्य को करके वे भी मठ में आ गये। परमहंस की जन्मतिथि आ रही थी। उस दिन स्वामीजी ने पचास के लगभग ब्रह्मचारियों का यज्ञोपवीत संस्कार सम्पन्न किया। उन्हें गायत्री-मन्त्र की दीक्षा दी। इनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सभी वर्णों के लोग थे।

फरवरी मास में कुमारी ओलीबुल तथा कुमारी मैक्लीऑड अमेरिका से गुरुदेव की जन्मभूमि का दर्शन करने तथा भारतीय संस्कृति के साथ परिचित होने के लिए यहाँ आ गयीं। संघ-कार्य में सहायता पहुँचाने की भी उनकी हार्दिक इच्छा थी। कुमारी मुलर और मार्गरेट पहले ही से यहाँ आ चुकी थीं। मुखोपाध्याय के मकान के अतिरिक्त यहाँ कुछ कुटीर बनाकर भी आवास की व्यवस्था की गयी थी। ये विदेशी शिष्याएँ कुछ तो मकान

में और कुछ कुटीरों में रह रही थीं। भारतीयता में उन्हें शिक्षित करने के लिए स्वामी विवेकानन्दजी ने स्वामी स्वरूपानन्दजी को नियुक्त किया। परन्तु कुमारी नोबल ने संघ के साथ एकात्मभाव से सम्मिलित होने के उद्देश्य से गुरुदेव से अनुमति मांगी। स्वामीजी ने उसे ब्रह्मचर्य व्रत की दीक्षा दी। यही कुमारी नोबल दीक्षित होने के बाद भगिनी निवेदिता के नाम से ख्यात हुईं।

नये मठ के निर्माण का कार्य, नये शिष्यों और शिष्याओं की शिक्षा की व्यवस्था, देश-विदेश में हो रहे प्रचार-कार्य की व्यवस्था-चिन्ता, इन सबके कारण स्वामीजी को विश्राम नहीं मिल पाता था और इसका प्रभाव फिर स्वास्थ्य पर पड़ने लगा। चिकित्सकों ने फिर स्थान-परिवर्तन का सुझाव दिया। अन्ततः कार्य को गुरुभाइयों और शिष्यों को सौंपकर ३० मार्च को स्वामीजी फिर दार्जिलिंग चले गये। यहाँ धीरे-धीरे स्वास्थ्य में सुधार होने लगा। पर कलकत्ता से प्लेग फैलने का समाचार मिला। महामारीग्रस्त लोगों की सेवा-सहायता के लिए उनके मन-प्राण विकल हो उठे। ३ मई को वे दार्जिलिंग से कलकत्ता लौट आये। इस बीमारी से बचने के सुरक्षात्मक उपाय जनसाधारण को बताने के लिए हिन्दी और बंगला में प्रचार-सामग्री छपाकर बाँटी। साथ ही शिष्यों और गुरुभाइयोंसहित उन्होंने महामारीग्रस्तों की सेवा का कार्य प्रारम्भ कर दिया।

महामारी का प्रकोप शान्त होने पर सेवियर महोदय के निमन्त्रण पर स्वामीजी ने विदेशी शिष्याओं सहित अलमोड़ा जाने का कार्यक्रम बनाया। चार विदेशी शिष्याओं तथा स्वामी तुरीयानन्दजी, निरंजनानन्दजी, सदानन्दजी आदि भी उनके साथ गये। नैनीताल पहुँचकर उन्होंने कुछ दिन विश्राम किया। खेतड़ी के महाराज अपने गुरुदेव के दर्शनार्थ यहाँ पहले ही पहुँचे हुए थे। वहाँ से अलमोड़ा जाकर सभी संन्यासी सेवियर महोदय के बंगले में रहने लगे। शिष्याओं के लिए दूसरे मकान की व्यवस्था कर दी गयी। शिष्याओं को उपदेश देने का क्रम जारी रहा। भगिनी निवेदिता को पाश्चिमी संस्कारों से मुक्त कर भारतीय आचार-व्यवहार ग्रहण करने में बड़ा संघर्ष करना पड़ा। पर एक दिन गुरु-कृपा से उनका

भाव-परिवर्तन हो गया और जो उन्हें कठिन लगता था, वह सहज-साध्य हो गया।

यहाँ स्वामीजी की प्रवृत्ति एकदम निर्जन वास की हो गयी। वे दस-बारह घण्टे अरण्य में एकांतवास करते। धर्मचर्चा से वे उदासीन रहने लगे। एक बार तो पूरा सप्ताह वे अरण्यवास में रहे। जब वे वापस अलमोड़ा आये तो दो दुःखद समाचार सुनने को मिले। गाजीपुर के विख्यात साधु पवहारी बाबा ने स्वयं को आहुति के रूप में अग्नि को समर्पित कर दिया था; दूसरे, स्वामीजी के भक्त और उनके भाषणों को लेखबद्ध करने वाले श्री गुडविन का ऊटकमण्ड में देहान्त हो गया था। स्वामीजी इन समाचारों से शोक-सन्तप्त हो उठे। मद्रास से 'प्रबुद्ध भारत' पत्रिका के सम्पादक महोदय का देहान्त हो जाने से पत्रिका को अलमोड़ा से प्रकाशित करने की व्यवस्था की गयी थी। तदनुसार स्वामी स्वरूपानन्द सम्पादक और सेवियर महोदय संचालक नियुक्त हुए।

अब उन्होंने कश्मीर के लिए प्रस्थान किया। वहाँ वे श्रीमती बुल के अतिथि बने। वे २५ जून को कश्मीर पधारे थे। यहाँ एक सप्ताह के वास के बाद वे एकदम गहन-गम्भीर हो गये। अब फिर उन्हें एकान्तवास प्रिय हो गया। अमेरिकन शिष्याओं की भावनाओं के अनुरूप ४ जुलाई को अमेरिकन स्वतन्त्रता-दिवस मनाने का स्वामीजी ने आयोजन किया। ६ जुलाई को श्रीमती बुल तथा कुमारी मैक्लीओड श्रीनगर से कार्यवश गुलमर्ग चली गयीं। जब वे १० तारीख को लौटकर आयीं तो पता लगा कि स्वामीजी बिना कुछ बताये कहीं चले गये हैं। अन्त में पता लगा कि वे अमरनाथ की यात्रार्थ चल दिये हैं। पर मार्ग की बाधाओं के कारण १५ जुलाई को स्वामीजी यात्रा पूरी किये बिना लौट आये। १८ जुलाई को वे इस्लामाबाद लौटे। वहाँ से अवन्तीपुर के ध्वंसावशेषों का दर्शन करते हुए अच्छाबल की ओर चले। अच्छाबल में एक दिन उन्होंने फिर अमरनाथ-यात्रा का विचार प्रकट किया। केवल भगिनी निवेदिता को साथ चलने की अनुमति मिली। शेष शिष्याओं को अपने वापस आने तक पहलगाँव में रहने का आदेश देकर यात्रा की व्यवस्था करने लगे। तम्बू आदि खरीदने

के लिए उन्हें इस्लामाबाद लौटना पड़ा। सामान जुटाकर भगिनी निवेदिता के साथ उन्होंने यात्रा प्रारम्भ की। मार्ग में समस्त यात्री-व्रतों का पालन करते हुए वे आगे बढ़ने लगे। मार्ग में पड़नेवाले अनेक तीर्थों में स्नान करते हुए यात्रीगण जब अमरनाथ गुफा के पास पहुँचे तो महादेव के जय-घोष से आकाश भर उठा। हिमशीतल जल में स्नान करके गुफा में पहुँचे। हिमपिण्ड के रूप में यह प्राकृत शिवलिंग अनन्त काल से यहाँ विराजमान है। भक्तिभाव से दण्डवत् प्रणत होकर स्वामीजी ने इस प्राकृत प्रतीक को प्रणाम किया। फिर कुछ देर ध्यानमग्न होकर बाहर आये। उड़ते हुए शुभ्र कपोतयुगल के दर्शन करके अपने को कृतार्थ माना। वापसी पर पहल-गाँव में प्रतीक्षारत शिष्याएँ मिलीं। सभी लोग ८ अगस्त को श्रीनगर को लौट आये। ३० सितम्बर तक वे श्रीनगर में ही रहे। ३० सितम्बर को वे अकेले क्षीरभवानी की ओर चल दिये। यहाँ कुछ दिन तपश्चर्या में बिताकर वापस श्रीनगर लौट आये और १३ अक्तूबर को मण्डली-सहित लाहौर पहुँचे। शिष्याओं की इच्छा भारत के कुछ प्रमुख नगरों को देखने की थी। स्वामीजी अलमोड़ा से आये हुए शिष्य सदानन्दजी के साथ कलकत्ता लौट आये। १८ अक्तूबर को मठ में पधारने पर सभी बान्धवों और शिष्यों ने प्रसन्नता प्रकट की। स्वामीजी के गिरते स्वास्थ्य की चिन्ता ने सभी को चिन्तातुर कर दिया। डाक्टर आर० एल० दत्त तथा अन्यों ने सावधान रहने को कहा। चिकित्सा की सुविधा के लिए मठ से कलकत्ता में, बाग बाजार के श्री बलराम के मकान में स्वामीजी को रखा गया। वे बीच में आकर मठ के कार्य को देख आया करते थे। भगिनी निवेदिता भी यात्रा समाप्त कर कलकत्ता लौट आयीं। उन्होंने स्त्री-शिक्षा को अपना कार्यक्षेत्र बनाने की इच्छा व्यक्त की। बाग बाजार में उन्होंने एक बालिका विद्यालय की स्थापना की।

६ दिसम्बर श्री रामकृष्ण संघ के इतिहास में एक स्मरणीय दिन रहेगा। उस दिन ब्राह्ममुहूर्त में विवेकानन्द ने गुरुभाइयों व शिष्योंसहित गंगास्नान किया और नवीन गैरिक वस्त्र पहना। ध्यान-पूजा के बाद श्री रामकृष्ण परमहंस के देहावशेष वाले ताम्रपात्र को दक्षिण स्कन्ध पर

धारण कर वे बेलूड़ मठ की ओर चले। गुरुभाई और शिष्य शंख-घण्टा आदि बजाते उनके पीछे-पीछे चले। मठ-प्राँगण में यत्नपूर्वक निर्मित वेदिका पर पवित्र अवशेषों को संस्थापित कर सभी भक्तों ने श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया। इसके बाद यज्ञाग्नि प्रज्वलित कर ऋचाओं के गान-सहित आहुतियाँ समर्पित की गयीं। खीर पकाकर भोग लगाया। तदनन्तर संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित प्रवचन किया।

श्री रामकृष्ण देव के मन्तव्य का प्रचार-प्रसार करने के लिए 'उद्बोधन' नामक बंगला पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। श्री स्वामी त्रिगुणातीतानन्द उसके सम्पादक बने। तरह-तरह की व्यस्तताओं के कारण स्वामीजी फिर अस्वस्थ हो चले। आगामी ग्रीष्म में उन्हें फिर विदेश जाना था, अतः स्वास्थ्य में आवश्यक सुधार वांछित था। विश्राम के विचार से वे १९ दिसम्बर को वैद्यनाथ धाम चले गये। वहाँ प्रियनाथ मुखोपाध्याय ने उन्हें अपना अतिथि बनाया। वहाँ पहले तो उनका दमे का कष्ट एकदम बढ़ गया, पर बाद में स्वास्थ्य में सुधार होने लगा। उधर २ जनवरी, १८९९ को मठ नये स्थान पर आ गया। वहाँ की दैनिक गति-विधि की सूचना स्वामीजी को मिलती रहती थी।

३ फरवरी को स्वामीजी फिर मठ लौट आये। मठ के कार्य को सुचारु रूप से चलता देख वे प्रसन्न हुए।

१९ जून का दिन स्वामीजी की इंग्लैण्ड और अमेरिका यात्रा के लिए निश्चित हुआ। स्वामीजी के अनुरोध से स्वामी तुरीयानन्दजी ने उनके साथ जाने की तैयारी की। भगिनी निवेदिता बालिका-विद्यालय के कार्य-वश इंग्लैण्ड जाना चाहती थीं। १९ जून को स्वामी विवेकानन्दजी तथा तुरीयानन्दजी को विदाई देने के लिए एक छोटी-सी सभा हुई। स्वामीजी ने 'संन्यासी का आदर्श व उसका साधन' विषय पर एक भाषण किया। उन्होंने युगधर्म के महत्त्व को समझाया और इस बात पर बल दिया कि मठ का उद्देश्य सच्चे मानव तैयार करना है।

महामानव विवेकानन्द

२० जून, १८९९ को प्रातः स्वामी विवेकानन्दजी गुरुभाइयोंसहित बाग बाजार में श्री माताजी के निवासस्थान पर पहुँचे। दोपहर का भोजन सभी ने वहीं किया। माताजी इन संन्यासियों को, जिनमें उनका पुत्र भी एक था, भोजन कराकर परम प्रसन्न हुई। तीसरे पहर मातृचरणों की धूलि को मस्तक पर धारण करके और उनका मंगल आशीर्वाद लेकर स्वामीजी तुरीयानन्द और भगिनी निवेदिता सहित जलयान पर चढ़ने के निमित्त प्रिन्सेस घाट पर उपस्थित हुए। अनेक स्नेही एवं भक्त वहाँ प्रतीक्षा करते खड़े थे। सभी से विदा लेकर तीनों यात्री 'गोलकुण्डा' जहाज पर सवार हुए। यह जहाज २४ जून को मद्रास पहुँचा। वहाँ के भक्तों को उनके आगमन का समाचार पहले ही मिल चुका था। सब प्रकार के प्रयत्न करने पर भी कलकत्ता में फैले प्रकोप के कारण स्वामीजी को मद्रास में उतरने की स्वीकृति नहीं दी गयी। 'ब्रह्मवादिन' पत्रिका के सम्बन्ध में परामर्श लेने के लिए श्री आलासिंग पेरुमल मद्रास से स्टीमर पर श्रीलंका पहुँचे। वे स्वामीजी के वहाँ रुकने पर उनसे मिलकर विचार-विनिमय करना चाहते थे।

श्रीलंका में स्वामीजी के जहाज से उतरते ही दर्शनार्थियों की भीड़ ने स्वागत किया। मनस्वी श्री कुमारस्वामी तथा श्री अरुणाचलम् को वहाँ उपस्थित देख स्वामीजी अत्यन्त प्रसन्न हुए। यहाँ से २८ जून को फिर यात्रा आरम्भ हुई। जहाज अदन की ओर बढ़ रहा था। इस समुद्र-यात्रा में समय का बाहुल्य होने से स्वामीजी की मानसपुत्री भगिनी निवेदिता ने अपने गुरुदेव से विभिन्न विषयों पर सारपूर्ण शिक्षाएँ लीं। भगिनी निवेदिता ने कई बार लक्ष्य किया कि स्वामीजी इस दृश्यमान जगत् के

समातान्तर विद्यमान किसी दूसरे भाव-जगत् में, जिसे देख पाना अन्यों के लिए सम्भव नहीं है, विचरण करते रहते हैं और फलस्वरूप कभी कोई ऐसी बात कह बैठते हैं, जिसका इस चक्षुगोचर जगत् से कोई सम्बन्ध नहीं है; और फिर अपनी इस 'भूल' पर पर्दा डालने के लिए श्रोता को किसी अन्य विषय की ओर आकृष्ट करने लगते हैं; और अपनी इस 'भूल' के लिए लज्जा और संकोच का अनुभव करते हैं।

स्वामीजी की चिन्तनधारा में सदा चार बातों की ओर संकेत होता था—(१) पश्चिम का सुख-सुविधापूर्ण, शिक्षित किन्तु भोगवासना-प्रधान समाज। (२) इसके विपरीत, प्राचीन भारत का गौरवपूर्ण आदर्श—त्यागपूर्वक भोग और इन्द्रिय-संयम। (३) भारतीय समाज पर ईसाई मिशनरियों, ब्राह्मों आदि के आक्रमण। (४) गतानुगतिक, दैन्य और जड़ता की प्रतिमूर्ति जैसा तात्कालिक भारतीय समाज। इन सभी समस्याओं से घिरे रहकर भी उन्हें यह दृढ़ विश्वास था कि सूर्योदय पूर्व से ही होगा। यह स्वामी विवेकानन्द ही थे, जिन्होंने घोषणा की थी कि जातीय सभ्यता और संस्कृति से घृणा और विद्रोह करके, दूसरों की अनुकृति करने से किसी राष्ट्र का उत्थान नहीं होता, नहीं हो सकता।

३१ जुलाई को वे लन्दन पहुँचे। वहाँ स्वागत के लिए उपस्थित अंग्रेज शिष्य-शिष्याओं के बीच दो अमेरिकन शिष्याओं को देख उन्हें विस्मय और आनन्द हुआ। समाचार-पत्रों में स्वामीजी के लन्दन पधारने का समाचार पढ़कर ही वे डिट्रायट से दर्शनार्थ लन्दन आयी थीं। लन्दन से कुछ दूर स्थित बिम्बलडन में स्वामीजी ठहरे। अब की बार सार्वजनिक भाषणों का कार्यक्रम उन्होंने स्थगित रखा। व्यक्तिगत सम्पर्क, शिक्षा और उपदेश द्वारा योग्य शिष्यों का दल तैयार करने पर ही उन्होंने जोर दिया। दीप से दीप जलाने की प्रक्रिया ही स्वीकार की।

१६ अगस्त को गुरुभाई श्री स्वामी तुरीयानन्दजी तथा दोनों अमेरिकन शिष्याओं सहित स्वामीजी ने न्यूयार्क के लिए समुद्र-यात्रा प्रारम्भ की। यात्रा में शिक्षण और उपदेश का दैनिक क्रम चालू रहा। न्यूयार्क पहुँचने पर लिगेट दम्पति ने आचार्यश्री को अपना अतिथि बनाया।

उस दिन यजमान दम्पति के आग्रह से वे नगर से १५० मील दूर उनके ग्राम के मकान को चल दिए। स्वामीजी के दुर्बल स्वास्थ्य को देखकर लिगेट दम्पति ने उन्हें प्रचार-कार्य आरम्भ करने से रोका और उनकी चिकित्सा की व्यवस्था कर दी। एक मास के उपरांत भगिनी निवेदिता भी इंग्लैण्ड से यहाँ आ गयीं। न्यूयार्क में प्रचार-कार्य देखनेवाले श्री स्वामी अभेदानन्दजी कार्यवश न्यूयार्क में नहीं थे। अतः उनसे स्वामीजी की न्यूयार्क में भेंट नहीं हो सकी थी। वे भी स्वामीजी से मिलने उनके पास आये। वेदान्त के प्रचार-प्रसार का कार्य सुचारु रूप से चल रहा है, और वेदान्त-समिति के लिए स्थायी भवन की व्यवस्था भी होने वाली है, यह जान स्वामीजी को प्रसन्नता हुई। अभेदानन्दजी न्यूयार्क लौट गये। १५ अक्तूबर को वेदान्त समिति के नये भवन का उद्घाटन हुआ। इसके एक सप्ताह बाद श्री स्वामी अभेदानन्दजी ने वहाँ पर प्रतिदिन शिक्षण और उपदेश का कार्यक्रम चालू कर दिया।

५ नवम्बर को लिगेट दम्पति से अनुमति लेकर स्वामी विवेकानन्दजी भगिनी निवेदिता और स्वामी तुरीयानन्द सहित न्यूयार्क लौट आये। स्वामी तुरीयानन्दजी स्वामी अभेदानन्दजी के साथ मिलकर कार्य करने लगे। स्वामी तुरीयानन्दजी अपने कार्य और पाण्डित्य के कारण शीघ्र ही लोकप्रिय हो गये। १० दिसम्बर को कैम्ब्रिज कान्फ्रेंस की व्यवस्था के अनुसार उन्होंने शंकराचार्य के सम्बन्ध में एक लेख पढ़ा। इस गहन पाण्डित्यपूर्ण लेख का विद्वन्मण्डली ने खूब स्वागत किया।

अनेक अमेरिकावासी, जो स्वामी विवेकानन्दजी की पुस्तक पढ़कर उनकी ओर आकृष्ट हुए थे, उनके न्यूयार्क में होने का समाचार पाकर दर्शनार्थ और धार्मिक प्रश्नों के समाधान के लिए न्यूयार्क आने लगे। स्वामीजी बड़े हर्ष के साथ उनके साथ धर्म-चर्चा करते थे। अन्य नगरों के वाली शिष्यों के आमन्त्रण पाकर स्वामीजी बोस्टन, डिट्रायट, ब्रुकलिन आदि कई स्थानों में गये। तदनन्तर सुदूर कैलीफोर्निया की यात्रा की। रास्ते में भक्तों के आग्रह से उन्हें शिकागो उतरना पड़ा। यहाँ कुछ दिन रहकर वे कैलीफोर्निया चले गये। कैलीफोर्निया की जलवायु स्वामीजी के

स्वास्थ्य के अनुकूल रही। काफी परिश्रम करने पर भी वे वैसे श्रान्त नहीं हुए। इन्हीं दिनों डा० मिल्स महोदय ने एक धर्मसभा का आयोजन किया। सैकड़ों धर्माचार्य और धर्मप्रचारक इस सभा में सम्मिलित हुए। स्वामी विवेकानन्दजी भी निमन्त्रित थे। उनके उदार धार्मिक दृष्टिकोण और सर्व-धर्म-समभाव के विचारों को सुनकर सभी मुग्ध हो गये। सानफ्रांसिस्को में उनका विख्यात भाषण 'सार्वजनीन धर्म का आदर्श' तथा कृष्ण, बुद्ध, ईसा और मुहम्मद आदि महापुरुषों के सम्बन्ध में धारावाहिक व्याख्यान हुए। इसके अतिरिक्त राजयोग पर भी उनका भाषण हुआ। इस समय के उनके भाषणों को लेखनीबद्ध नहीं किया जा सका। कैलीफोर्निया में प्रचार-कार्य की देखरेख के लिए स्वामीजी ने स्वामी तुरीयानन्द को पत्र लिखकर बुला लिया। कैलीफोर्निया की एक भक्त शिष्या कुमारी मिन्नी सी० ब्रुक ने मठ की स्थापना के निमित्त १६० एकड़ के लगभग एक भूमिखण्ड दान दिया। बाद में स्वामी तुरीयानन्दजी के प्रयत्नों से वहाँ एक आश्रम की स्थापना हुई।

मई मास के अन्त में स्वामीजी को लन्दन से लिगेट दम्पति का एक पत्र प्राप्त हुआ। उन्होंने जुलाई मास में अपने पेरिस जाने की बात लिखी थी और स्वामीजी से भी साथ चलने का आग्रह किया था। पेरिस में हो रही प्रदर्शनी की धर्मेतिहास-सभा की विदेशी प्रतिनिधियों की स्वागत-समिति की ओर से स्वामीजी को सम्मिलित होने का निमन्त्रण प्राप्त हुआ था। इन कारणों से वे कैलीफोर्निया के स्नेहियों से विदा लेकर जून में वहाँ से लौट आये। वे सात मास वहाँ रहे। न्यूयार्क में स्वामीजी वेदान्त-समिति के भवन में ठहरे और प्रति रविवार को गीता पर व्याख्यान देने लगे। भगिनी निवेदिता भी इन्हीं दिनों न्यूयार्क आ पहुँचीं। वेदान्त-समिति के सदस्यों के आग्रह से भगिनी निवेदिता ने प्रति शनिवार तथा रविवार को तीसरे पहर भारत के आचार-व्यवहार और जीवन के सम्बन्ध में नियमित रूप से कुछ व्याख्यान देने आरम्भ किये।

३ जुलाई को स्वामीजी न्यूयार्क से डिट्रायट पहुँचे। उसी दिन स्वामी तुरीयानन्द जी कैलीफोर्निया के लिए चले गये। एक सप्ताह बाद स्वामी

विवेकानन्दजी फिर न्यूयार्क लौट आए और २० जुलाई को पेरिस चले गये। वहाँ लिगेट दम्पति ने उन्हें अपना अतिथि बनाया। इन दिनों श्रीमती ओलीबुल डिटानी प्रांत के 'लानिग्रोन' स्थान में रह रही थीं। उनके निमन्त्रण पर स्वामीजी कुछ दिन वहाँ रहे। पेरिस में धर्म, दर्शन, साहित्य, विज्ञान तथा चित्रकला क्षेत्र के गण्यमान्य व्यक्ति प्रतिदिन स्वामीजी के पास आकर विविध चर्चा करने लगे। धर्मेतिहास-सभा के लिए आये धर्माचार्य भी उनसे धर्मचर्चा करते रहे। लगभग तीन मास पेरिस में बिताकर २४ अक्तूबर को स्वामीजी अपने सहयोगियों सहित विएना को चले। वहाँ से हंगरी, सर्बिया, रूमानिया, वलोरिया होकर कन्स्टैंटिनोपल पहुँचे। वहाँ से एथेन्स और फिर मिस्र गये। काहिरा में पुरातत्त्व संग्रहालय, पिरामिड, स्फिंक्स आदि महत्त्वपूर्ण वस्तुओं को देखा। मिस्र में ही उन्हें मायावती मठ के संस्थापक-संचालक सेवियर महोदय के देहावसान का समाचार मिला। इस शोक-समाचार को सुनकर वे भारत लौटने के लिए व्यग्र हो उठे। अपने साथियों से विदा लेकर वे भारत के लिए जहाज पर सवार हुए। वे बम्बई बन्दरगाह पर उतरे और कलकत्ता के लिए गाड़ी पर चल दिये। इस बार अभिनन्दन-भाषण, प्रचार-उपदेश आदि में उनकी तनिक भी रुचि नहीं थी, इसलिए चुपचाप यात्रा कर रहे थे।

९ दिसम्बर, सन् १९०० को स्वामीजी किसी पूर्व-सूचना के बेलुड़ मठ में आ पहुँचे। स्वामीजी को अपने बीच पाकर मठवासियों की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। यहाँ पहुँचने के बाद ही वे मायावती मठ में जाने के लिए व्यग्र हो उठे। सेवियर महोदय के अवसान के कारण मठ के कार्य की व्यवस्था करना और श्रीमती सेवियर को धीरज बँधाना इस यात्रा का उद्देश्य था। २७ दिसम्बर को वे कलकत्ता से चल पड़े। 'प्रबुद्ध भारत' के सम्पादक स्वामी स्वरूपानन्द ने यहाँ के कार्य को भली प्रकार सँभाल लिया था। स्वामीजी से प्रेरणा पाकर वे और भी कर्मठ बन गये। इस मठ के कुछ संन्यासियों ने परमहंस रामकृष्ण की मूर्ति को एक कमरे में स्थापित किया था। इसकी प्रतिदिन पूजा होती थी। उसे देख यद्यपि स्वामीजी ने प्रत्यक्ष रूप से उसे हटाने के लिए नहीं कहा किन्तु सायंकालीन प्रवचन के समय

बाह्य-पूजा की असारता प्रमाणित करते हुए अनेक उपदेश दिये। उनका आशय समझकर व्यवस्थापकों ने पूजा बन्द कर दी।

यहाँ हिमपात के कारण स्वामीजी को अधिकांश समय कमरे में बन्द रहना पड़ता था। भयानक शीत के कारण हड्डियाँ तक ठिठुर जाती थीं। स्वामीजी के दुर्बल स्वास्थ्य के लिए यह असह्य था। अन्त में २४ जनवरी, सन् १९०१ को वे बेलूड़ मठ लौट आये।

स्वामी विवेकानन्द की माताजी का विचार पूर्व बंगाल तथा असम के तीर्थों की यात्रा करने का था। इसी उद्देश्य से कुछ शिष्योंसहित उन्होंने १८ मार्च को ढाका के लिए प्रस्थान किया। २५ मार्च को माताजी तथा उनकी साथिनें नारायणगंज में उनके साथ आ मिलीं। यहाँ के भक्तों के आग्रह से उन्होंने दो व्याख्यान दिये। यहाँ से वे साधुनाग महाशय की जन्मभूमि देवभोग का दर्शन करने गए। १८९९ ई० के दिसम्बर मास में नाग महाशय का देहावसान हुआ था। आज जनकतुल्य तत्त्वज्ञानी नाग महाशय से सम्बन्धित अनेक स्मृतियाँ उनके मानसपटल पर उभर आयीं। यहाँ से वे फिर ढाका लौट गये। वहाँ से कामाख्या और चन्द्रनाथ के दर्शनों के लिए यात्रा की। रास्ते में गौहाटी ठहरकर कुछ दिन विश्राम किया। यहाँ तीन व्याख्यान दिये। वापस ढाका लौटने पर स्वास्थ्य एकदम खराब हो गया। सभी चिन्तित हो उठे। स्वास्थ्य-सुधार के लिए सभी की ओर से शिलांग जाने का अनुरोध स्वामीजी ने स्वीकार कर लिया। वे वहाँ के लिए चल पड़े। उन दिनों असम के कमिश्नर भी सर हेनरी कॉटन थे। उनकी स्वामीजी के प्रति बड़ी श्रद्धा थी। उन्होंने स्वामीजी का स्वागत किया और व्याख्यान करवाने का आयोजन भी। यहाँ भी स्वास्थ्य में कोई सुधार नहीं हुआ। इसके विपरीत दमा रोग और भी बढ़ गया। वे फिर बेलूड़ मठ लौट आये। दमा, उसके साथ बहुमूत्र रोग और अब सूजन भी हो गयी। मठवासियों के आग्रह से सभी कार्यों से विरत होकर स्वामीजी चिकित्सा कराने लगे। आयुर्वेदिक पद्धति से चिकित्सा होने लगी। यद्यपि स्वामीजी को रोग के कारण बहुत कष्ट था, पर वे उसे प्रकट नहीं होने देते थे, ताकि मठवासी चिन्तित न हों। प्रयत्न करने पर भी आनेवालों से बातचीत करने के लिए स्वामीजी

को मना नहीं किया जा सका, स्वाध्याय से भी वे विरत नहीं हुए। अकर्मण्य जीवन उन्हें तिलभर भी नहीं सुहाता था। इधर उनकी भूख और नींद भी जाती रही थी। फिर बीतते दिनों के साथ स्वास्थ्य में कुछ सुधार होने लगा। अब स्वामीजी प्रातः-सायं घूमने के लिए निकलने लगे। कभी कोई छोटा-मोटा काम स्वयं करने लगते। फुलवाड़ी में बीज रोपते। कभी रसोई-घर में पहुँचकर वे कोई चीज बनाकर शिष्यों और गुरुभाइयों को खिलाते।

सन् १९०१ में स्वामीजी की इच्छा से मठ में विधिपूर्वक दुर्गार्चन का कार्यक्रम बना। एक दुर्गा-प्रतिमा मठ में लायी गयी। माताजी के नाम से संकल्पपूर्वक यह अनुष्ठान प्रारम्भ हुआ। ब्रह्मचारी कृष्णलाल महाराज इस अनुष्ठान के पुरोहित बने। तन्त्रधारक का आसन ग्रहण किया तन्त्रशास्त्र-विद् ईश्वरचन्द्र भट्टाचार्य महोदय ने। इस अनुष्ठान की समाप्ति पर पशु-बलि न देकर मिष्टान्न का नैवेद्य प्रस्तुत किया गया। सैकड़ों लोगों को भोजन कराया गया। अनेक ब्राह्मण भी भोजन के लिए आमन्त्रित थे। इसके पश्चात् लक्ष्मीपूजा तथा कालीपूजा का अनुष्ठान हुआ। एक दिन स्वामीजी अपनी पूज्या माताजी के साथ कालीघाट गये। बचपन में एक बार स्वामीजी के बीमार होने पर माँ ने काली माँ से मनौती मानी थी कि ठीक होने पर भेंट चढ़ाऊँगी और पुत्र को मंदिर लोट-पोटाकर आऊँगी, पर बाद में वे यह बात भूल गयीं। अब पुत्र की बीमारी में उन्हें यह बात स्मरण हो आयी। माँ ने पुत्र को अपनी मनोकामना कहला भेजी। माँ की आज्ञा के अनुसार स्वामीजी कालीघाट की आदिगंगा में स्नान कर भीगे वस्त्रोंसहित काली माँ के चरण-कमलों में तीन बार धरती पर लोट-पोट हुए। इसके बाद प्रदक्षिणा करके होम किया। स्वामीजी कहा करते थे, "मैं शास्त्र-मर्यादा को नष्ट करने नहीं, पुष्ट करने के लिए ही आया हूँ।" यही कारण था कि वे शास्त्र-परम्पराओं का अनुमोदन और आचरण करते थे।

अक्तूबर मास में रोग फिर बढ़ गया। उस समय के प्रसिद्ध डाक्टर मि० सण्डर्स चिकित्सा करने लगे। सारे कार्यकलाप स्वामीजी को बन्द करने पड़े। शिष्य और गुरुभाई भी विशेष रूप से सावधान होकर परिचर्या करने लगे।

१९०१ में भारतीय राष्ट्रीय महासभा का अधिवेशन कलकत्ता में हुआ। भारत-भर के प्रतिनिधि कलकत्ता और इनमें अनेक स्वामीजी के दर्शनों के लिए बेलूड़ मठ आये। सभी हिन्दीभाषियों के साथ स्वामीजी हिन्दी में बात करते थे।

स्वामीजी ने अनेक प्रभावशाली प्रतिनिधियों से कलकत्ता में एक वेद-विद्यालय की स्थापना पर बल दिया। इस विद्यालय से वेद, उपनिषद्, दर्शन, धर्म, साहित्य आदि की शिक्षा देकर जीवनदानी युवकों की एक सतत् परम्परा निर्माण करने का उनका विचार था। यद्यपि अनेक महानुभावों ने इस योजना में रुचि प्रकट की और सहायता का आश्वासन दिया, पर स्वामीजी की यह अन्तिम इच्छा पूर्ण नहीं हो पायी।

इन्हीं दिनों जापान से दो विख्यात विद्वान् मठ में पधारे। जापान में एक धर्मसभा करने का सत्संकल्प लेकर वे स्वामीजी से मिलने आए थे। उनके आग्रह पर अस्वस्थ होते हुए भी इस पुण्यकर्म में अपना योग देने के लिए स्वामीजी ने जापान जाना स्वीकार कर लिया। ये दोनों जापानी विद्वान् मठ में ही निवास करने लगे और प्रतिदिन भगवान् बुद्ध के पावन चरित्र और बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में स्वामीजी से चर्चा चलने लगी। स्वामीजी ने प्रतिपादित किया कि बौद्ध दर्शन हिन्दू दर्शन का विरोधी नहीं है, जैसा कि कुछ पश्चिमी विद्वान् कहते हैं, अपितु उपनिषदों के ज्ञानकाण्ड का आधार लेकर ही खड़ा हुआ है।

जनवरी, सन् १९०२ को स्वामीजी जापानी विद्वान् डा० ओकाकुरा का निमन्त्रण स्वीकार कर उनके साथ बुद्धगया की यात्रा पर गये। वहाँ से काशीधाम जाने का भी उन्होंने निश्चय किया।

श्री रामकृष्ण परमहंस की जन्मतिथि निकट आयी जानकर वे बेलूड़ मठ वापस पधारे। कश्मीर में उनका स्वास्थ्य ठीक हो गया था, किन्तु मठ में लौटते ही एकदम बिस्तर में पड़ गये। श्री रामकृष्ण जयन्ती के दिन सभी भक्तों, शिष्यों और श्रद्धालुओं के मुख पर आनन्द के स्थान पर विषाद की छाया दिखायी दी। स्वामी विवेकानन्दजी आज शय्या त्यागकर दर्शनार्थियों के बीच उपस्थित नहीं हो सके। स्वामीजी के वर्द्धमान रोग के कारण

सभी चिन्तित थे। मठ का विशाल प्रांगण भक्तों से भरा हुआ था। कहीं कीर्तन हो रहा था, तो कहीं प्रसाद बाँटा गया था। स्वामीजी को बाहर का सारा हाल बता दिया जाता था। भगिनी निवेदिता कुछ अंग्रेज महिलाओं के साथ मठ-दर्शन के लिए आयीं, पर स्वामीजी के रोग के कष्ट का विचार कर थोड़ी देर बाद लौट गयीं। स्वामीजी की देखभाल कर रहे श्री शरद् बाबू बाहर जाकर उत्सव को देखकर आये और उन्होंने स्वामीजी को बताया कि कोई पचास हजार लोग एकत्र हुए हैं। एकत्र जनसमूह को देखने के लिए स्वामीजी ने खिड़की के पास खड़े होकर बाहर देखा। फिर शय्या पर लौट गये।

धीरे-धीरे दिन बीतते गये। स्वामीजी ध्यान, शास्त्रचर्चा, स्वाध्याय और शिष्यों की शिक्षा में अपना समय व्यतीत करने लगे। जून के प्रारम्भ से ही स्वामीजी ने मठ और मिशन के सम्बन्ध में उदासीन वृत्ति धारण कर ली। गुरुभाई इस भाव-परिवर्तन से चिन्तित हो उठे। उन्हें श्री रामकृष्ण देव का यह कथन याद था कि यह जब आत्मसाक्षात्कार में प्रवृत्त होगा तो शरीर-बन्धन छूट जायेगा। इन दिनों उनके सारे रोगों का भी शमन हो गया था।

देह-त्याग से एक सप्ताह पूर्व स्वामीजी ने स्वामी शुद्धानन्दजी को एक पंचांग लाने के लिए कहा। उन्होंने पंचांग को देखा और रख दिया। उनके मुख का भाव देखकर ऐसा लगता जैसे कोई मुहूर्त देख रहे हैं। देह-त्याग से तीन दिन पूर्व स्वामीजी मठ के मैदान में घूमते रहे। सम्प्रति जिस स्थान पर उनका समाधि-मन्दिर बना है, उसे तर्जनी से दिखाते हुए उन्होंने कहा था, "मेरा देहान्त होने पर उस स्थान पर मेरा अन्तिम संस्कार करना।" किसी से कुछ अधिक पूछते नहीं बना। सुनकर सब मौन रह गये।

बुधवार, एकादशी तिथि को स्वामीजी का व्रत था। दोपहर का भोजन उन्होंने स्वयं परोसा और सभी को भोजन कराया। चेहरा खूब प्रसन्न था। उन्हें प्रसन्न देखकर सभी प्रसन्न हो उठे। उन्होंने ही लोगों के हाथ धुलाये और पोंछने के लिए तौलिया दिया। एक शिष्य ने श्रद्धापूर्वक निवेदन किया, "यह आप क्या कर रहे हैं? भला आपसे हम अपनी सेवा कराएँगे!"

उन्होंने बड़े माधुर्य से उत्तर दिया, "क्या ईसामसीह ने अपने शिष्यों के पैर नहीं धोये थे ?" शिष्य के मुँह में आया, 'परन्तु वह तो उनका अन्तिम दिन था।' ये बोल बाहर नहीं निकले।

४ जुलाई, १९०२ का प्रभात। नित्य नियमानुसार आज स्वामीजी सम्मिलित ध्यान में उपस्थित नहीं हुए। दूसरे दिन शनिवार और अमावस्या तिथि थी। इसलिए उन्होंने मठ में काली-पूजा करने की इच्छा व्यक्त की। इसी सम्बन्ध में बातचीत हो रही थी कि स्वामी रामकृष्णानन्द के पिता शाक्त, तांत्रिक-पण्डित ईशानचन्द्र भट्टाचार्य महोदय मठ में पधारे। उन्हें देख स्वामीजी बहुत प्रसन्न हुए। पण्डितजी के साथ परामर्श करने के बाद स्वामीजी ने स्वामी शुद्धानन्द तथा बोद्धानन्दजी को पूजा की सामग्री जुटाने का आदेश दिया। फिर थोड़ी-सी चाय पीकर मठ के ठाकुरघर में प्रविष्ट हुए। थोड़ी देर बाद लोगों ने देखा कि ठाकुरघर के सभी द्वार और खिड़कियाँ बन्द हैं। सभी विस्मित थे कि पहले तो कभी ऐसा नहीं हुआ था। तीन घण्टे का समय बीत जाने पर भजन गुनगुनाते स्वामीजी सीढ़ियों के नीचे उतरे। फिर 'मन चल निज निकेतन' गाना गुनगुनाते वे प्राँगण में टहलने लगे। भोजन की घंटी बजी तो स्वामीजी सबके साथ एकत्र भोजन करने बैठे। वे प्रायः अपने ही कमरे में भोजन कर लेते थे। उन्हें साथ बैठे देखकर सभी प्रसन्न हुए। भोजनोपरान्त कुछ विश्राम करके उन्होंने ब्रह्मचारियों को संस्कृत की कक्षा में बुला लिया। पहले यह कक्षा तीन बजे लगती थी। आज सवा बजे ही पाठ प्रारम्भ हो गया। तीन घंटे वे व्याकरण पढ़ाते रहे। इसके बाद स्वामी प्रेमानन्दजी को साथ लेकर घूमने निकले। वापस आकर बरामदे में बैठे और इधर-उधर की बातें करते रहे। संध्या-आरती का समय हुआ। सभी ठाकुरघर की ओर चले और स्वामीजी दुमंजिले पर अपने कमरे में आ गये। एक ब्रह्मचारी को, जो सदा स्वामीजी के साथ रहते थे, स्वामीजी ने अपने कमरे की सभी खिड़कियाँ और दरवाजे खोलने का आदेश दिया। वे खिड़की के पास खड़े होकर दक्षिणेश्वर की ओर देखने लगे। देर तक वे खड़े देखते रहे। ब्रह्मचारी को बाहर बैठ जप करने का आदेश देकर स्वयं भी पद्मासनस्थ होकर जप करने लगे।

कोई घण्टे-भर बाद वे उठकर लौट गये और ब्रह्मचारी को पंखा झलने के लिए कहा। इस समय रात्रि के लगभग नौ बजे थे। जपमाला हाथ में लिए वे सोये हुए थे निस्पन्द व स्थिर। एकाएक उनका हाथ काँप उठा और अस्पष्ट स्वर में कुछ कराहने का-सा शब्द हुआ। एक-दो लम्बे साँस आये और उनका सिर सिरहाने से सरक गया। ब्रह्मचारी पहले तो घबराये। फिर नीचे जाकर संन्यासियों को सूचना दी। कई संन्यासी एकदम ऊपर आ गये। देखा तो योगीश्वर महासमाधि में शयन कर रहे थे। अमावस्या का अन्धकार मठवासियों के लिए और भी घना हो उठा।

शक्तिदायी विचार

लेन-देन प्रकृति का नियम है। भारत यदि फिर अपना सिर ऊंचा करना चाहता है तो उसे अपना ऐश्वर्य निकालकर संसार की सारी जातियों में—बेबूझ—वितरण कर देना चाहिए, लुटा देना चाहिए और उसके बदले में जो कुछ मिल जाए उसे ग्रहण करने को तैयार रहना चाहिए।

० ० ०

हमारी जाति ने अपनी विशेषता गंवा दी है, इसी कारण भारत में इतने दुःख और कष्ट हैं। अब हमें वह उपाय करना है जिससे कि उस जातीय विशेषता का विकास हो। इसके लिए हमें नीच जातियों को उठाना होगा। हिन्दू-मुसलमान और क्रिस्तान सभी ने उन्हें पैरों-तले कुचल डाला है। अब उन्हें उठाने की जो शक्ति है वह अपने भीतर लानी होगी—असली हिन्दुओं को यह काम करना पड़ेगा। संसार में जहाँ भी जो कुछ दोष देखे जाते हैं वे न तो उन देशों के हैं और न वहाँ पर माने जाने वाले धर्म के; उन दोषों की उत्पत्ति इसलिए हुई है कि धर्म का यथार्थ रीति से पालन नहीं किया गया। फलतः धर्म का कुछ भी दोष नहीं, दोष मनुष्यों का ही है।

० ० ०

तुम लोग धर्म पर विश्वास करो या न करो, किन्तु यदि जातीय जीवन को अक्षुण्ण रखना चाहो तो तुम्हें धर्म की रक्षा करने के लिए तत्पर होना पड़ेगा। एक हाथ से खूब दृढ़ता से धर्म को पकड़ो और दूसरा हाथ इसलिए बढ़ाओ कि जो कुछ अन्यान्य जातियों के यहाँ सीखने लायक है, सीख लो। किन्तु याद रखो, जो कुछ भी सीखो उसे हिन्दू जीवन के मूल आदर्श के अनुरूप बना लो।

० ० ०

हमें आगे की ओर बढ़ना ही होगा, किन्तु उस टूटे-फूटे मार्ग से नहीं जिसे स्वधर्म से छोड़ देनेवालों ने और पादरियों ने बतलाया है। हमें तो अपने भाव से और अपने ही मार्ग पर उन्नति करनी होगी।

० ० ०

वीर्य ही साधुता है और दुर्बलता ही पाप है। यदि उपनिषदों में कोई ऐसा शब्द है जो वज्र की भाँति जोर से, अज्ञान की ढेरी पर गिरकर उसे एकदम छिन्न-भिन्न कर डाले तो वह शब्द है 'अभय'—निडर हो जाना। यदि विश्व को कोई धर्म सिखाना है तो वह 'अभय' है; इसी मूलमन्त्र का आश्रय लेना होगा, क्योंकि डर ही पाप है और यही अधःपात का निश्चित कारण है।

० ० ०

वीर्यवान्-बलवान् बनने की चेष्टा करो। अपने उपनिषद्—उसी बल-प्रद, आलोकप्रद दिव्य दर्शनशास्त्र का फिर अवलम्बन ग्रहण करो और मजेदार लेकिन दुर्बलता बढ़ानेवाले विषयों को छोड़ो। ये उपनिषद्रूपी बहुत बड़े सत्य सहज ही समझ में आ जाने योग्य हैं। जिस तरह तुम्हारे अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए और किसी भी प्रमाण की आवश्यकता नहीं, उसी तरह उपनिषदों का हाल है। ये सहज ही समझ में आ सकते हैं। तुम्हारे आगे उपनिषदों के यही सत्य तत्त्व मौजूद हैं, इनको ग्रहण करो। इन्हें प्राप्त करके कार्यरूप में परिणत करो। ऐसा करने से अवश्य ही भारत का उद्धार होगा।

० ० ०

कमजोर दिमाग कुछ भी नहीं कर सकता; अब हमें ऐसा रद्दी दिमाग बदल डालना होगा और मस्तिष्क को बदल लेना पड़ेगा। तुम लोग बल-वान् बनो। गीता का पाठ करने की अपेक्षा यदि तुम फुटबाल खेलो तो स्वर्ग के बहुत नजदीक पहुँच सकते हो। तुम्हारा शरीर जरा तगड़ा हो जायेगा तो तुम पहले की अपेक्षा कहीं अधिक गीता को समझ सकोगे।

० ० ०

हम ऐसे आदमियों को चाहते हैं जिनके शरीर की नसें लोहे की तरह

और स्नायु इस्पात की तरह मजबूत हों। उनकी देह में ऐसा मन हो जिसका संगठन वज्र से हुआ हो। हमें चाहिए पराक्रम, मनुष्यत्व, क्षत्र-वीर्य और ब्रह्मतेज।

० ० ०

देश के सर्वसाधारणों का अपमान करना ही हमारा प्रबल जातीय पाप है और यही है हमारी अवनति का एक कारण। जब तक भारत की जनता उत्तम रूप से शिक्षित नहीं होती, जब तक उसे खाने को अच्छी खुराक भरपेट नहीं मिलती और तन ढकने को वस्त्र नहीं मिलते तथा जब तक कुलीन एवं बड़े आदमी भली-भाँति उनकी सँभाल नहीं करते, तब तक राजनीति का कितना ही आन्दोलन क्यों न किया जाये, कुछ भी फल न होगा। यदि हमें सचमुच भारत का पुनरुद्धार करने की इच्छा है तो हमें जनता के लिए अवश्य ही काम करना होगा।

० ० ०

क्या पोथियाँ पढ़ लेना ही शिक्षा है ? नहीं। तो क्या अनेक प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने का नाम शिक्षा है ? नहीं। जिसकी सहायता से इच्छा-शक्ति का वेग और स्फूर्ति अपने वश हो जाए और जो मनोरथ सफल हो सके, वही शिक्षा है।

० ० ०

मस्तिष्क में अनेक तरह का ज्ञान भर लेना, उससे कुछ काम न लेना और जन्म-भर वाद-विवाद करते रहने का नाम शिक्षा नहीं है। अच्छे आदर्श और अच्छे भावों को काम में लाकर लाभ उठाना चाहिए, जिससे वास्तविक मनुष्यत्व, चरित्र और जीवन बन सके।

० ० ०

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली मनुष्यत्व की शिक्षा नहीं देती, गठन नहीं करती; वह तो एक बनी-बनाई चीज को तोड़ना-फोड़ना जानती है। ऐसी अनवस्थामूलक अथवा अस्थिरता का प्रचार करने वाली शिक्षा—अथवा वह शिक्षा, जो केवल 'नेति' भाव को ही फैलाती है, किसी काम की नहीं। वह तो मौत से भी भयंकर है।

० ० ०

हमें अपने देश की आध्यात्मिक शिक्षा और सभी प्रकार की ऐहिक शिक्षा अपने हाथ में लेनी होगी और उस शिक्षा में भारतीय शिक्षा की सनातन गति स्थिर रखनी होगी। साथ ही सनातन प्रणाली को यथासंभव ग्रहण करना पड़ेगा।

० ० ०

कुछ इम्तहान पास कर लेना अथवा धुआँधार व्याख्यान देने की शक्ति प्राप्त कर लेना शिक्षित हो जाना नहीं कहलाता। जिस विद्या के बल से जनता को जीवन-संग्राम के लिए समर्थ नहीं किया जा सकता, जिसकी सहायता से मनुष्य का चरित्र-बल परोपकार में तत्पर और सिंह का-सा साहसी नहीं किया जा सकता, क्या वह शिक्षा है ? शिक्षा तो वही है जो मनुष्य को अपने पैरों पर खड़ा होना सिखाती है।

० ० ०

हमें ऐसा उपाय करना होगा जिससे हमारे युवकों को वेदों, अनेक दर्शनों और भाष्य-ग्रन्थों की शिक्षा प्राप्त हो; साथ ही अन्यान्य अवैदिक धर्मों के तत्त्व भी उन्हें समझा दिये जाएँ ताकि उन्हें घर का ज्ञान हो जाए और वे बाहर की बातों से भी अपरिचित न रहें।

० ० ०

किसी से बहस-मुबाहसा करने की जरूरत नहीं। तुम्हें जो कुछ सिखाना है सिखाओ, औरों की बात में मत उलझो। औरों को अपनी-अपनी धुन में मस्त रहने दो। 'सत्यमेव जयते नानृतम्, तदा किं विवादेन ?' जब सत्य की ही जीत होती है तब फिर विवाद करने से मतलब ?

० ० ०

शिक्षा से मतलब कुछ शब्द लिखा-पढ़ा देने से नहीं है। शिक्षा तो हमारी वृत्ति और शक्तियों के विकास का नाम है, अथवा शिक्षा से मतलब व्यक्तियों को इस तरह संगठित करने से है जिससे कि उनकी इच्छा सद्विषयों की ओर दौड़े और कार्य भली-भाँति सिद्ध हों। इसी प्रकार की शिक्षा पाने

पर हमारे भारत की भलाई करने में समर्थ निडर महिलाओं का अभ्युदय होगा—वे संघमित्रा, लीलावती, अहल्याबाई, मीराबाई और दमयन्ती प्रभृति का पदानुसरण करने में समर्थ होंगी; वे पवित्र, स्वार्थ की छूत से अछूती वीर नारियाँ होंगी—भगवत् के चरण-कमलों का स्पर्श करने से उनमें वीरता का प्रमाण होगा—और वे वीरप्रसविनी होने की पात्र होंगी।

० ० ०

जिन्होंने अपने तईं ईश्वर के हवाले कर दिया है, वे पूर्वोल्लिखित कर्म करनेवालों की अपेक्षा संसार के भले के लिए बहुत अधिक काम करते हैं। जिसने अपने को बिलकुल शुद्ध कर लिया है ऐसा एक भी आदमी हजार धर्म-प्रचारकों के मुकाबले में कहीं बढ़कर काम करता है। चित्त की शुद्धि और मौन रहने से ही बात में जोर आ जाता है।

० ० ०

कर्म वही है, जिसके द्वारा आत्मभाव का विकास हो और जिसके द्वारा अनात्मभाव का विकास हो, वही अकर्म है।

० ० ०

अतएव व्यक्तिगत, देशगत और कालगत कर्म-अकर्म का साधन करो।

० ० ०

चालाकी से कोई बड़ा काम नहीं होता। प्रेम, सचाई पर प्रीति और सुदीर्घ पराक्रम की सहायता से सारे काम सिद्ध होते हैं। 'तत्कुरु पौरुषम्।' अब उद्योग करो।

० ० ०

लोहा जब तक गर्म है तभी तक उस पर चोट लगानी चाहिए। सुस्ती की कोई जरूरत नहीं। ईर्ष्या और अहंता को सदा के लिए गंगा में डुबा दो। कार्यक्षेत्र में महाशक्ति के साथ आ जाओ। काम, काम, काम, बस, यही मूल मंत्र है।

० ० ०

शरीर तो एक दिन जाने को ही है तो फिर यह आलसियों की तरह क्यों जाए? जंग लगकर मरने की अपेक्षा घिस-पिसकर—कुछ करके—

मरना कहीं अच्छा है। मर जाने पर हड्डियाँ जादू के खेल में लगेंगी, इस की चिन्ता करना व्यर्थ है।

o o o

संसार में हमेशा दाता बनो—दाता का आसन ग्रहण करो। सर्वस्व दे डालो, किन्तु कुछ बदलने की इच्छा न करो। प्रेमदान करो, सेवादान करो। जो कुछ तुम देना चाहते हो दे दो, किन्तु खबरदार, कुछ एवज की चाह न करना।

o o o

दुनिया में यदि कुछ पाप है तो वह दुर्बलता है। सभी प्रकार की दुर्बलता छोड़ दो—दुर्बलता ही मृत्यु है—वही पाप है।

o o o

जीवन का अर्थ उन्नति है, उन्नति का मतलब हृदय का विस्तार है और हृदय का विस्तार तथा प्रेम एक ही वस्तु है। अतएव प्रेम ही जीवन हुआ और वही एकमात्र जीवनगति का नियामक है। स्वार्थपरता ही मृत्यु है, जीवित रहने पर भी प्राणी को यह मृत्यु घेर लेती है और देहान्त हो जाने पर भी यही स्वार्थपरायणता वास्तव में मृत्युस्वरूप है।

o o o

विस्तार ही जीवन और संकोच ही मृत्यु है। प्रेम ही जीवन और द्वेष ही मृत्यु है। हम जिस दिन से संकुचित होने लगे, हमने अन्यान्य जातियों को घृणा की दृष्टि से देखना आरम्भ किया, उसी दिन से हमारी मृत्यु का श्रीगणेश हो गया; और जब तक हम विस्तारशील नहीं बनते तब तक हम किसी भी तरह मृत्यु के पंजे से अपने को बचा नहीं सकते। इसलिए हमें पृथिवी की सभी जातियों के साथ हेल-मेल करना होगा।

o o o

प्रेम कभी निष्फल नहीं जाता। चाहे आज हो, चाहे कल, चाहे सैकड़ों युगों के पश्चात्—प्रेम की विजय होगी और जरूर होगी। तो क्या तुम मनुष्य-जाति पर प्रेम करते हो? भगवान् की खोज में कहीं जाते हो? दरिद्र, दुखिया और दुर्बल— क्या ये सभी तुम्हारे ईश्वर नहीं? पहले इनकी

उपासना क्यों नहीं करते ? गंगा किनारे रहकर कुआँ किसलिए खोदते हो ? प्रेम की सर्वशक्तिमत्ता पर विश्वास करना सीखो। क्या तुम्हारे हृदय में प्रेम है ? यदि है तो तुम सर्वशक्तिमान् हो। क्या तुम्हें एक भी कामना नहीं—कामनाओं से बिल्कुल विहीन हो ? यदि ऐसा है तो तुम्हारी शक्ति को रोकने की सामर्थ्य किसमें है ? अपने चरित्र के बल से मनुष्य सब जगह विजयी हो सकता है। भगवान् अपनी सन्तान की रक्षा समुद्र के भीतर भी किया करते हैं। तुम्हारी मातृभूमि वीर सन्तान माँगती है। तुम लोग वीर बनो।

o o o

पोथी-पत्तरा, विद्या-फिद्या, योग, जप, ज्ञान, ध्यान, प्रेम के आगे सब धूल-समान हैं। प्रेम ही भक्ति है, प्रेम ही ज्ञान है और प्रेम ही मुक्ति है। यही पूजा-पाठ है, नर-नारी का रूप धारण करनेवाले प्रभु की सेवा-पूजा है; और जो कुछ है सब 'नेदं यदिदमुपासते' है।

o o o

रुपये की बदौलत कुछ नहीं होता, न नाम से होता है, न यश से और न विद्या से; जो कुछ होता है, प्रेम से होता है—बाधा-विघ्नरूप वज्र की तरह दृढ़ प्राचीर में होकर एक चरित्र ही मार्ग बना ले सकता है।

o o o

संसार में वास्तव में जो कुछ उन्नति हुई वह प्रेम की ही शक्ति से हुई है। दोष देखने से कभी भला काम नहीं किया जा सकता। हजारों वर्ष परीक्षा करके यह देख लिया गया है—निन्दा करने से कुछ भी लाभ नहीं होता।

o o o

जिनकी समदृष्टि हो गई है वे ही ब्रह्म में अवस्थित माने जाते हैं। सब प्रकार की घृणा का अर्थ है—आत्मा के द्वारा आत्मा का विनाश। प्रेम ही जीवन का यथार्थ नियामक है। प्रेमावस्था को प्राप्त करना सिद्धावस्था है; किन्तु हम जितना ही सिद्धि की ओर अग्रसर होते हैं उतना ही कम काम कर सकते हैं। सात्त्विक व्यक्ति समझते और देखते हैं कि सब-कुछ खिलवाड़

मात्र है, इसी से वे किसी चीज में सर नहीं खपाते।

० ० ०

निर्विघ्न उद्देश्य-सिद्धि के लिए चटपट कोई काम कर डालना उचित नहीं। सिद्धि-प्राप्ति के लिए इन तीनों गुणों की—पवित्रता, सहनशीलता और अध्यवसाय— और सबसे अधिक प्रेम की आवश्यकता है।

० ० ०

धर्म और ईश्वर शब्द से अनन्त शक्ति और अनन्त वीर्य का बोध होता है। दुर्बलता और दासता को छोड़ो। यदि तुम मुक्तस्वभाव हो जाओ, तभी तुम केवल मात्र आत्मा हो; मुक्तस्वभाव होने पर अमृतत्व तुम्हारी मुट्ठी में आ जाएगा। मुक्तस्वभाव होनेवाला ही ईश्वर है।

० ० ०

जो धर्म, जो ईश्वर विधवाओं के आँसू नहीं पोंछ सकता, अथवा बिना माता-पिता वाले अनाथ के मुँह में रोटी का एक टुकड़ा नहीं दे सकता, उस धर्म अथवा ईश्वर पर मैं विश्वास नहीं करता। मत-वाद, मत-मतान्तरों की चर्चा कितनी ही सुन्दर क्यों न हो, उसमें कितने ही गम्भीर दार्शनिक तत्त्व क्यों न भरे हों, जब तक वह मत वा पुस्तकों में आबद्ध है, तब तक मैं उसे मानता ही नहीं। हमारी आँखें पीठ की ओर नहीं हैं, सामने हैं, अत-एव सामने की ओर बढ़ो, और जिस धर्म को तुम अपना समझकर गौरव करते हो उसके उपदेशों को कार्य में परिणत कर दिखाओ।

० ० ०

हिन्दुओं का (आजकल का) धर्म न वेद में है, न पुराण में, न भक्ति में है, न मुक्ति में—धर्म चौके-चूल्हे में रह गया है। (मौजूदा) हिन्दू धर्म न विचार-मार्ग में है, न ज्ञान-मार्ग में, छुआछूत में है; "खबरदार, दूर-दूर, हमें छू न लेना"; बस, इसी में रह गया है। इस छूत के झमेले में पड़कर जान न दो, 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' क्या सिर्फ पोथी में ही धरा रहेगा? जो मुट्ठी-भर अन्न भी गरीब को न दे सकेंगे, वे मुक्ति क्या खाक देंगे! जो दूसरों की हवा लगने से अशुद्ध हो जाते हैं वे औरों को क्या पवित्र करेंगे!

छुआछूत एक प्रकार की मानसिक व्याधि है, उससे बचे रहो।

० ० ०

मनसा वाचा कर्मणा 'जगद्धिताय' बनना पड़ेगा। तुमने पढ़ा है, "मातृदेवो भव, पितृदेवो भव", मैं कहता हूँ, "दरिद्रदेवो भव, मूर्खदेवो भव"। दरिद्र, मूर्ख, अज्ञानी और कातर व्यक्ति ही तुम्हारे लिए देवी-देवता हों, उन्हीं की सेवा को तुम परम धर्म समझो।

० ० ०

मैं न मुक्ति चाहता हूँ न भक्ति, मैं महारौरव नर्क में भी जाने को तैयार हूँ। 'वसन्तवल्लोकहितं चरन्त'—वसन्त जिस तरह संसार का भला करता है उसी तरह भलाई करते रहना मेरा धर्म है।

० ० ०

व्यास ने कलियुग में दान को ही एकमात्र धर्म कहा है, और उसमें धर्म-दान सबसे बढ़िया दान है, उससे उतरकर विद्या-दान है, इससे भी नीचे प्राण-दान का नम्बर है और अन्न-दान तो सबसे निकृष्ट दान है। अन्न-दान हम बहुत कर चुके, हमारी-सी दानशील जाति संसार-भर में नहीं है। इस देश में भिखारी के पास भी यदि मुट्ठी-भर अन्न होगा तो वह उसमें से आधा दान कर देगा। यह दृश्य केवल भारतवर्ष में ही देखने को मिलेगा। हम यथेष्ट अन्न-दान कर चुके, अब अन्य दो प्रकार के दान में आगे बढ़ना है—धर्म और विद्या का दान।

० ० ०

यदि देह-मन शुद्ध न हो तो मन्दिर में जाकर महादेव की पूजा करना व्यर्थ है। जिनकी देह और मन दोनों पवित्र हैं, महादेवजी उन्हीं की प्रार्थना सुनते हैं। जो अशुद्ध स्वभाव होने पर भी दूसरों को धर्म सिखाने का दावा करते हैं उनकी बुरी गति होती है। बाह्य पूजा तो मानस पूजा का सिर्फ बाहरी अंग है—मानस पूजा और चित्त-शुद्धि ही असल चीज है। यदि यह न हो तो बाहरी पूजा करने से कुछ भी लाभ नहीं।

० ० ०

चित्त का शुद्ध होना और दूसरों के भले के लिए उद्योग करना ही

सभी प्रकार की उपासनाओं का सार है। शिव की यथार्थ पूजा वे ही लोग करते हैं जो दरिद्र, दुर्बल और रोगी सभी में शिव का दर्शन करते हैं। और जो सिर्फ मूर्ति में ही शिव की पूजा करता है वह निरा प्रवर्तक है। मन्दिर में जाकर नित्य नियम से दर्शन करने वाले भक्त पर भी महादेवजी उतने प्रसन्न नहीं होते जितने उस व्यक्ति पर, जो जाति और धर्म का लिहाज छोड़कर एक भी दरिद्र व्यक्ति की शिव समझकर सेवा करता है।

o o o

जो पिता की सेवा करना चाहें, उन्हें उनकी सन्तान की सेवा पहले करनी पड़ेगी। जो महादेवजी की सेवा-पूजा करना चाहें, उन्हें महादेवजी की सन्तान की सेवा सबसे पहले करनी पड़ेगी, पहले जगत् के प्राणियों की सेवा करनी होगी। शास्त्रों में लिखा है, जो लोग भगवान् के दासों की सेवा करते हैं वही भगवान् के श्रेष्ठ दास हैं।

o o o

पराई सेवा परम पवित्र काम है। इस सत्कर्म के बल से चित्त शुद्ध होता है और सबके भीतर जो प्रभु निवास करते हैं वे प्रकट हो जाते हैं। वे तो सभी के हृदय में विराजमान हैं। यदि शीशे के ऊपर धूल पड़ गई हो या मैल जम गया हो तो उसमें हम अपना स्पष्ट प्रतिबिम्ब नहीं देख सकते। हमारे हृदयरूपी दर्पण पर भी उसी तरह अज्ञान और पाप का मैल जम गया है। सबसे बढ़कर मैल है स्वार्थपरायणता—पहले अपनी फिक्र करना।

o o o

अनुभव करना ही धर्म का प्राण है। कुछ आचार और नियमों को मानकर सभी चल सकते हैं। कुछ बातों को मानकर और कुछ का परहेज रखकर सभी लोग व्यवहार कर सकते हैं, किन्तु अनुभूति के लिए कितने आदमी व्याकुल होते हैं? व्याकुलता, ईश्वर-प्राप्ति अथवा आत्मज्ञान के लिए उन्माद होना ही सच्ची धर्मप्राणता है।

o o o

असल बात अनुभूति ही है। हजारों वर्ष तक गंगास्नान करते रहो,

हजारों वर्ष तक निरामिष भोजन किया करो—उसके द्वारा यदि आत्म-विकास में सहायता न मिले तो समझ लेना कि यह सब अकारथ गया। और आचारहीन होने पर भी यदि किसी को आत्मदर्शन हो जाए तो उस अनाचार पर सैकड़ों आचार न्योछावर हैं, वह अनाचार ही श्रेष्ठ है। हाँ, आत्म-साक्षात्कार हो जाने पर भी लोक-संग्रह के लिए आचारों को कुछ-कुछ मानना ठीक है। सारांश, मन को एकनिष्ठ करना चाहिए। एक विषय में निष्ठा होने से मन एकाग्र होता है, अर्थात् मन की अन्यान्य वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं और एक विषय में चित्त रम जाता है, बहुतेरे ऊपरी आचार करने और 'विधिनिषेध' के जाल को मानने में ही समय निकल जाता है, आत्मचिन्तन की फुर्सत ही नहीं मिलती। दिन-रात विधि-निषेध के चक्कर में पड़े रहने से आत्मा का प्रसार किस तरह होगा? जिसे जितनी आत्मानुभूति हो जाती है उसका विधि-निषेध भी उतना ही घट जाता है। आचार्य शंकर ने कहा है—"निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः?"

० ० ०

हमारे हृदय में प्रेम, धर्म और पवित्रता का भाव जैसे-जैसे बढ़ता जाता है वैसे ही परिमाण में हम बाहर प्रेम, धर्म और पवित्रता देखने लगते हैं। दूसरों के कामों की जो निन्दा करते हैं वह वास्तव में अपनी ही निन्दा है, तुम अपने क्षुद्र ब्रह्माण्ड को ठीक करो—तुम्हारे हाथ की बात है;—फिर बृहत् ब्रह्माण्ड भी तुम्हारे लिए अपने-आप ठीक हो जाएगा।

० ० ०

हृदय को समुद्र की भाँति महान् कर लो, संसार की छोटी-छोटी बातों से ऊपर उठ जाओ, यहाँ तक कि अशुभ घटना होने पर भी खूब आनन्द मनाओ। दुनिया को एक तस्वीर की तरह समझो। याद रखो कि संसार की कोई भी वस्तु तुम्हें विचलित नहीं कर सकती।

० ० ०

यह संसार एक पिशाच-सा है, मानो एक राज्य है और हमारा क्षुद्र अहं-भाव इसका राजा है। इसे हटाकर तनकर खड़े हो जाओ। काम-

काञ्चन, मान और यश को त्यागकर दृढ़ता से ईश्वर को पकड़े रहो। अन्त में हम सुख और दुःख होने पर बिलकुल उदासीन होने लगेंगे।

० ० ०

संसार को त्यागने के मानी हैं—इस अहंभाव को बिलकुल भूल जाना, इसका ख्याल तक न रखना। देह में रहा जा सकता है किन्तु हमें बिलकुल देह के ही न हो रहना चाहिए। इस 'हम' को बिल्कुल नष्ट कर डालना होगा। लोग जब तुम्हें बुरा कहें तब तुम उनकी भलाई की कामना किया करो। सोचो तो, वे तुम्हारा कितना उपकार करते हैं; यदि किसी का बुरा हो सकता है तो सिर्फ उन्हीं निन्दकों का। ऐसी जगह जाओ जहाँ लोग तुम्हें घृणा करें जिसमें वे लोग तुम्हारे अहं-भाव को ठोक-पीटकर तुम्हारे भीतर से निकाल बाहर कर दें। तब तुम भगवान् के बहुत नजदीक पहुँच जाओगे।

० ० ०

'अहं' को हटा दो, नाश कर दो, भूल जाओ। तुम्हारे भीतर भगवान् को काम करने दो। यह उन्हीं का काम है, उसे वही समझें। हमें और कुछ न करना पड़ेगा—केवल किनारे हट आवें, उन्हें काम करने दें। हम जितना ही हट आवेंगे, भगवान् उतना ही अधिक हमारे भीतर आवेंगे। कच्चे अहं-भाव को नष्ट कर डालो, उसी अहं-भाव को रहने दो जो पक्का है।

० ० ०

बड़प्पन, दलबन्दी और ईर्ष्या को हमेशा के लिए विदा कर दो। पृथ्वी जैसे सब-कुछ सहती रहती है—सर्वसहा है, उसी तरह तुम भी बर्दाश्त करना सीखो। इतना कर सकने से दुनिया तुम्हारे वश में हो जाएगी।

० ० ०

चंचलता और गम्भीरता को एक में मिला दो। सबसे हिल-मिलकर चलो। अहं-भाव को दूर हटाओ, किसी सम्प्रदाय अथवा जत्थे के फेर में मत पड़ो, वृथा तर्क करना महापातक समझो।

० ० ०

मुक्ति और समाधि आदि से सिर्फ ब्रह्म के प्रकाश के मार्ग से रुकावटें अलग हो जाती हैं। वैसे तो आत्मा सूर्य की तरह सर्वदा जाज्वल्यमान है।

अज्ञान-मेघों ने सिर्फ उसे ढक रखा है। उन्हीं मेघों को हटाने और सूर्य का प्रकाश होने देने से ही 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' वाली अवस्था प्राप्त होती है।

० ० ०

सभी प्राणी ब्रह्मस्वरूप हैं। प्रत्येक आत्मा मानो मेघ से ढका हुआ सूर्य है। एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में यह अन्तर है कि कहीं तो सूर्य पर मेघ का घना आवरण है और कहीं कुछ पतला।

० ० ०

आत्मा में न लिंग-(स्त्री-पुरुष आदि) भेद है, न जाति-भेद, न अपूर्णता।

० ० ०

बुद्धावतार में प्रभु ने कहा है कि आधिभौतिक दुःखों का कारण जाति है, फिर वह चाहे जन्म-गत, गुण-गत, धन या और किसी कारण से हो। आत्मा में न स्त्री-पुरुष का भेद है और न वर्ण, आश्रम आदि का भाव। जिस प्रकार कीचड़ से कीचड़ नहीं धुल सकता इसी प्रकार भेद-बुद्धि द्वारा अभेद कैसे साधन हो सकता है?

० ० ०

समुद्र जब स्थिर रहता है तब उसे ब्रह्म कहते हैं और जब उसमें लहरें उठती हैं तब उसे हम शक्ति अथवा माता कहते हैं। वह शक्ति अथवा महामाया ही देश-काल निर्मित स्वरूप है। वही सगुण है और अन्य निर्विशेष या निर्गुण है। पहले रूप में वह ईश्वर, जीव और जगत् है और दूसरे रूप में ही अज्ञात और अज्ञेय। उसी निरुपाधिक सत्ता से ईश्वर, जीव और जगत्—यह त्रित्व भाव आया है। सारी सत्ता, जो कुछ कि हम जान सकते हैं, यही त्रयात्मकत्व है—यही विशिष्टाद्वैत है।

० ० ०

जीवात्मा और परमात्मा का अभेद भाव अथवा समत्व भाव की प्राप्ति ही समाधि है।

० ० ०

सिर्फ ब्रह्म ही ब्रह्म है; न जन्म है न मृत्यु है, न दुःख है न कष्ट है, न

नर-हत्या है न कोई परिणाम है । न भला है न बुरा है—जो कुछ भी है ब्रह्म ही ब्रह्म है। हमें रस्सी में साँप का भ्रम हो गया है। भ्रम हमारा ही है।

० ० ०

जैसे दूध के प्रत्येक बिन्दु में घी मौजूद है वैसे ही जगत् में सर्वत्र ब्रह्म व्याप्त है। किन्तु मन्थन करने से एक विशेष स्थान में उसका प्रकाश होता है। जिस तरह मथने से दूध से मक्खन निकल आता है, वैसे ही ध्यान करने से आत्मा में ब्रह्म-साक्षात्कार होता है।

० ० ०

जैसे घिसकर आग पैदा की जा सकती है, वैसे ही ब्रह्म को भी मथकर प्रकाश किया जा सकता है।

० ० ०

जगज्जननी भगवती ही हमारे भीतर सोई हुई कुण्डलिनी है—उसकी उपासना किये बिना हम कभी अपने को नहीं पहचान सकते।

० ० ०

हमीं शिवस्वरूप, अतीन्द्रिय, अविनाशी और ज्ञानस्वरूप हैं। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर अनन्त शक्ति मौजूद है; जगदम्बा से विनती करने से यह शक्ति तुममें प्रकट हो जाएगी।

० ० ०

जिस व्यक्ति की आत्मा में से दूसरे की आत्मा को शक्ति पहुँचती है, उसे गुरु कहते हैं।

० ० ०

जो विद्वान्, पापरहित, कामवासनाहीन, श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञाता है वही सच्चा सद्गुरु है।

० ० ०

जो इस संसार-माया से पार उतार दे, जो कृपा करके सारी मानसिक आधि-व्याधियों को मिटा दे, वही यथार्थ गुरु है। जो वेद-वेदान्त के पण्डित हैं, जो ब्रह्मज्ञ हैं, जो दूसरों को अभय के किनारे ले जा सकते हैं,

यही असली गुरु हैं। उन्हें पाते ही लेले हो लो, 'नात्र कार्या विचारणा।'

० ० ०

गुरु के सम्बन्ध में हम लोगों को पहली बात यह देखनी चाहिए कि वह शास्त्रों का मर्म जानते हों। दूसरे, गुरु का बिलकुल पापरहित होना आवश्यक है। तीसरे, गुरु का उद्देश्य देखना होगा। कहीं ऐसा न हो कि वह नाम अथवा अन्य किसी उद्देश्य से शिक्षा देते हों। केवल स्नेह—अपने पर अकपट स्नेह ही के कारण शिक्षा में प्रवृत्ति उनका उद्देश्य होना चाहिए।

० ० ०

भारत में सभी नेता बनना चाहते हैं, पीछे चलने वाला कोई नहीं। हरेक को चाहिए कि हुकुम देने के पहले हुकुम बजाना सीखें। हमारी ईर्ष्या का ठिकाना है? जितने कमजोर हैं उतने ही ईर्ष्यापरायण हैं। जब तक इस ईर्ष्या-द्वेष का अन्त नहीं होता और हिन्दू लोग नेता की आज्ञा मानना नहीं सीखते तब तक एक समाज-संगठन नहीं हो सकता, तब तक हम यों ही बिखरे रहेंगे, कुछ न कर सकेंगे। यूरोप में भारत को बाहरी प्रकृति को जय करना सीखना पड़ेगा और भारत से यूरोप को अन्तःप्रकृति पर जय करना। फिर हिन्दू और यूरोपीय का कोई टण्टा न रहेगा। दोनों प्रकृतियों को जय करने वाला एक आदर्श मनुष्य-समाज बन जाएगा। हमने मनुष्यत्व के एक सिरे को और उन्होंने दूसरे सिरे को विकसित किया है। इन दोनों के मिलन की जरूरत है। मुक्ति जो हमारे धर्म का मूल मन्त्र है, उसका वास्तविक अर्थ ही है दैहिक, मानसिक, आध्यात्मिक सभी तरह की स्वाधीनता।

० ० ०

इस जग में जो तीन तरह के दुःख हैं, सब शास्त्रों का सिद्धान्त है कि वे नैसर्गिक नहीं, अतः उनसे छुटकारा मिल सकता है।

० ० ०

जिसे लोग अदृष्ट कहते हैं वह सिर्फ ईश्वर की इच्छा है।

० ० ०

मंगल वस्तु सत्य के आसपास की चीज है, फिर भी वह सत्य नहीं है।

अमंगल हमें विचलित न कर पावे, यह सीखने के बाद यह भी सीखना पड़ेगा कि मंगल से हम फूल न उठें। हमें अपने को मंगल-अमंगल दोनों से परे समझना पड़ेगा कि जहाँ एक से सम्बन्ध जोड़ा, दूसरा जरूर आ धमकेगा।

० ० ०

किसी विषय में मन को चारों ओर से खींचकर लगाने का नाम ध्यान है। एकाग्र करने की शक्ति आ जाने से फिर चाहे जिस विषय में मन को एकाग्र किया जा सकता है।

० ० ०

मुख्या भक्ति और मुख्य ज्ञान में कोई अन्तर नहीं है। मुख्या भक्ति के माने भगवान् को प्रेमस्वरूप समझना, मुख्य ज्ञान के माने सर्वत्र एकत्वानुभूति, सर्वत्र आत्मस्वरूप-दर्शन।

० ० ०

त्याग ही हमारे चरित्र का सर्वोच्च आदर्श होना चाहिए। केवल त्याग द्वारा ही यह अमृतत्व पाया जा सकता है। त्याग ही महाशक्ति भारत का सनातन झण्डा है। हिन्दुओं, इस त्याग के झण्डे को मत त्यागना, उसे सब के आगे रखो।

० ० ०

धर्म वह वस्तु है, जिससे पशु मनुष्य तक और मनुष्य परमात्मा तक उठ सकता है।

० ० ०

सत्य हजार ढंग से कहा जा सकता है, और फिर भी हर ढंग सच हो सकता है।

० ० ०

सब प्राणियों के प्रति करुणा रखो। जो दुःख में हैं, उन पर दया करो। सब प्राणियों से प्रेम करो। किसी से ईर्ष्या मत करो। दूसरों के दोष मत देखो।

० ० ०

यदि मैं एक मिट्टी के ढेले को पूर्णतया जान लूँ, तो सारी मिट्टी को

जान लूँगा। यह है सिद्धान्तों का ज्ञान, लेकिन उनका समायोजन अलग-अलग होता है। जब तुम स्वयं को जान लोगे, तो सब-कुछ जान लोगे।

० ० ०

अगर स्वाद की इन्द्रिय को ढील दी, तो सभी इन्द्रियाँ बेलगाम दौड़ेंगी।

० ० ०

ज्ञान, भक्ति, योग और कर्म—ये चार मार्ग मुक्ति की ओर ले जाने वाले हैं। हर एक को उस मार्ग का अनुसरण करना चाहिए, जिसके लिए वह योग्य है; लेकिन इस युग में कर्मयोग पर विशेष बल देना चाहिए।

० ० ०

सच्चे धर्म के क्षेत्र में कोरे पुस्तकीय ज्ञान का कोई स्थान नहीं।

० ० ०

पैसे वालों की पूजा का प्रवेश होते ही धार्मिक संप्रदाय का पतन आरंभ हो जाता है।

० ० ०

न पाप है, न पुण्य है, सिर्फ अज्ञान है। अद्वैत की उपलब्धि से यह अज्ञान मिट जाता है।

० ० ०

संस्थाओं के दोष दिखाना आसान होता है, चूँकि सब संस्थाएँ थोड़ी-बहुत अपूर्ण होती हैं, लेकिन मानव-जाति का सच्चा कल्याण करने वाला तो वह है, जो व्यक्तियों को, वे चाहे जिन संस्थाओं में रहते हों, अपनी अपूर्णताओं से ऊपर उठने में सहायता देता है। व्यक्ति के उत्थान से देश और संस्थाओं का भी उत्थान अवश्य होता है। शीलवान लोग बुरी रूढ़ियों और नियमों की उपेक्षा करते हैं और प्रेम, सहानुभूति और प्रामाणिकता के अलिखित और अधिक शक्तिशाली नियम उनका स्थान लेते हैं। वह राष्ट्र बहुत सुखी है, जिसका बहुत थोड़े-से कायदे-कानून से काम चलता है, और जिसे इस या उस संस्था में अपना सिर खपाने की जरूरत नहीं होती है। अच्छे आदमी सब विधि-विधानों से ऊपर उठते हैं, और वे ही अपने लोगों

को ऊपर उठाने में मदद करते हैं।

o o o

यदि त्याग की शक्ति प्राप्त करनी हो, तो हमें संवेगात्मकता से ऊपर उठना होगा। संवेग पशुओं की कोटि की चीज है। वे पूर्णरूपेण संवेग के प्राणी होते हैं।

o o o

कोई भी मत, जो तुम्हें ईश्वर-प्राप्ति में सहायता देता है, अच्छा है। धर्म ईश्वर की प्राप्ति है।

o o o

नास्तिक उदार हो सकता है, पर धार्मिक मनुष्य को उदार होना ही चाहिए।

o o o

'सामाजिक प्रगति' शब्द का उतना ही अर्थ है, जितना 'गर्म बर्फ' या 'अँधेरा प्रकाश'। अन्ततः 'सामाजिक प्रगति' जैसी कोई चीज नहीं।

o o o

परोपकार ही धर्म है; परपीड़न ही पाप। शक्ति और पौरुष पुण्य है, कमजोरी और कायरता पाप। स्वतन्त्रता पुण्य है, पराधीनता पाप। परमात्मा में और अपने-आप में विश्वास पुण्य है; सन्देह ही पाप है। एकता का ध्यान पुण्य है; अनेकता देखना ही पाप है। विभिन्न शास्त्र केवल पुण्य-प्राप्ति के ही साधन बनाते हैं।

o o o

जब भारत का सच्चा इतिहास लिखा जाएगा, यह सिद्ध होगा कि धर्म के विषय में और ललित कलाओं में भारत सारे विश्व का प्रथम गुरु है।

o o o

अगर मैं यह कहता हूँ कि मैं दूसरे धर्मों के प्रति सहनशील हूँ तो मैं समझता हूँ कि कोई धर्म अन्याय कर रहा है और मैं उसे दयापूर्वक क्षमा कर रहा हूँ। कोई भी मनुष्य किसी के साथ दया कर सकता है, यह समझना क्या ईश्वर के ऊपर दोषारोपण करना नहीं है? मैं अतीत के सब

धर्मों को स्वीकार करता हूँ तथा उनकी पूजा करता हूँ। मैं ईश्वर की पूजा सभी धर्मों के अनुसार करता हूँ, चाहे वह किसी भी रूप में उसकी पूजा करते हों। मैं मुसलमानों की मस्जिद में जाऊँगा। मैं ईसाइयों के गिर्जाघर में जाकर क्रॉस के सामने घुटने टेकूँगा। मैं बौद्ध विहार में प्रवेश करके बुद्ध तथा उनके संघ की शरण लूँगा। मैं वन में जाकर हिन्दू योगियों की तरह ध्यानमग्न होकर ब्रह्म-ज्ञान पाने की चेष्टा करूँगा।

० ० ०

मैं केवल इतना ही नहीं करूँगा। मैं भविष्य में आने वाले सभी धर्मों के लिए भी अपने हृदय को खुला रखूँगा। क्या ईश्वर का ग्रन्थ समाप्त हो गया? संसार की आध्यात्मिक अनुभूतियाँ एक अद्भुत ग्रन्थ हैं। वेद, बाइबल, कुरान आदि धर्मग्रन्थ उसके अलग-अलग पन्ने हैं। और इस विराट ग्रन्थ के अभी और भी पन्ने प्रकाशित होने हैं। अतीत में जो कुछ हुआ है, हम उसे ग्रहण करेंगे, वर्तमान की ज्ञान-ज्योति का उपभोग करेंगे तथा भविष्य में आनेवाली बातों को ग्रहण करने के लिए अपने हृदय के सभी द्वारों को खुला रखेंगे। अतीत के ऋषियों को प्रणाम, वर्तमान के महापुरुषों को प्रणाम तथा भविष्य में जो-जो आयेंगे, उन सबको प्रणाम।

□□□